धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष



पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला— ४५

धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष

(निबन्ध-संग्रह)

लेखक

राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

निदेशक, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

प्रकाशक

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

डी० ३५/७७ जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी० ३५/७७ जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी — २२१ ००१
दूरभाष : (०५४२) २४५०५४६

प्रथम संस्करण, २००६ ई०

मूल्य : रु० २००.०० (सजिल्द), रु० १५० (अजिल्द)

अक्षर संयोजन :
सार पब्लिकेशन
ई० ८, फेज-२, प्रेमचन्दनगर कालोनी
पाण्डेयपुर, वाराणसी - २२१ ००२

मुद्रक :
मित्तल आफसेट
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series—45

DHARMO AUR SANSKṚTIYON KĀ SANGHARṢH

By

Rashtriya PT. Vrajavallabha Dwivedi
Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001
Phone : (0542) 2450546

First Published 2006

ISBN 81-86768-78-5 (Hb)
ISBN 81-86768-79-3 (Pb)

Price : Rs. 200.00 (Hb), Rs. 150.00 (Pb)

Laser Typeset at :
Saar Publications
E-8, Phase-2, Premchand Colony
Pandeypur, Varanasi 221 002

Printed at :
Mittal Offset
Sundarpur, Varanasi

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक श्री काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का



शुभाशीर्वचन

हमारे शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक, आगमशास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् राष्ट्रियपंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के "धर्मों एवं संस्कृतियों का संघर्ष" नामक ग्रन्थ को महाशिवरात्रि की पूर्व सन्ध्या पर आयोजित विद्वत्सभा में शिवार्पित करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। यह ग्रन्थ हमारे शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला का ४५वाँ पुष्प है।

पंडित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी का यह ग्रन्थ उनके चुने हुए निबन्धों का एक संग्रह है। उनमें "धर्मों एवं संस्कृतियों का संघर्ष" शीर्षक एक निबन्ध भी है। उसी को यहाँ ग्रन्थ का नाम दे दिया गया है। इस ग्रन्थ में द्विवेदी जी के बारह स्वतन्त्र निबन्ध हैं और तेरहवें लेख में "कालजयी सनातन धर्म" नामक एक ग्रन्थ की समालोचना है।

इन सभी निबन्धों के माध्यम से पूरे विश्व में धर्मों एवं संस्कृतियों में हो रहे संघर्ष के बारे में चिन्ता व्यक्त की गई है। पंडित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी राष्ट्र एवं मानवता के एक श्रेष्ठ हितचिन्तक हैं। इसीलिए राष्ट्र और मानवता के घातक विचार जहाँ कहीं भी जिस किसी के भी द्वारा प्रचारित किये जाते हैं, उनका बहुत ही धैर्य से निराकरण करने का साहस रखते हैं। सत्य हमेशा कटु होता है, लेकिन उसका फल अवश्य मीठा होता है।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इस उक्ति में विश्व के सभी धर्मावलम्बियों के लिए सार्वकालिक सार्वभौम विचार कहा गया है कि भगवान् एक हैं, लेकिन उनकी उपासना-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक भक्त अपने इष्टदेवता की उपासना अपनी पद्धति से करता है, तो भी सभी उपासकों का उपास्य तत्त्व एक ही है। इस सार्वभौम तथ्य को यदि

सभी धर्मों के अनुयायी अच्छी तरह समझ लें, तो धर्मों में कभी भी संघर्ष नहीं होगा। महान् शिवभक्त पुष्पदन्त कवि ने अपने शिवमहिम्नस्तोत्र में "रुचीनां वैचित्र्यात्......" इस श्लोक में इस तथ्य को भली-भाँति समझाया है। विश्व के प्रत्येक धर्म का मूल उद्देश्य सत्य, प्रेम और करुणा के द्वारा समस्त मानवसमाज में शान्ति की स्थापना करना है और धर्माचरण के द्वारा प्रत्येक को आत्मतुष्टि प्राप्त करनी है। इस आत्मतुष्टि की भावना को छोड़कर जब मनुष्य अपने-अपने धर्म को स्पर्धा का साधन बना लेता है, तब धर्मान्तरण, हठवादिता तथा आतंकवाद आदि का सहारा लेकर पूरे विश्व में अशान्ति फैला देता है। इसलिए धर्म को स्पर्धा का साधन न बनाकर उसे आत्मतुष्टि का साधन बनाना चाहिए।

हमारी संस्कृति के ऊपर पाश्चात्य संस्कृति के निरन्तर आघात होते जा रहे हैं। इससे अपनी मूल संस्कृति को हम भूलते जा रहे हैं। सत्कार-समारम्भों में पुष्पहार और पुष्पगुच्छ प्रदान करने की जो भारतीय परम्परा चली आ रही थी, उसे भुला कर हम 'बुके' देने की होड़ में लगे हुए हैं। बच्चों के जन्मदिन पर भगवान् के सामने दीपक जलाना छोड़कर जलती हुई मोमबत्तियों को बुझाने में हम लग गए हैं।

नूतन वर्षारम्भ का प्रातःकालीन सूर्योदय के साथ स्वागत करना छोड़कर मध्यरात्रि में मद्यपान कर मदोन्मत्त अवस्था में स्वागत करने की विकृत प्रथा को आधुनिक मानवजाति अपना रही है। अपने पूर्वजों की मृत्यु की तिथि पर पुण्य कर्म और श्राद्धकर्म करना छोड़कर आधुनिक दिनांकों के हिसाब से क्रियाकर्म किये जा रहे हैं। 'एप्रिल फूल' और 'गुड फ्राइडे' जैसे पाश्चात्य आचरणों को हम अपना रहे हैं। इस तरह धर्मों और संस्कृतियों के हो रहे परस्पर के संघर्षों के बारे में पंडित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने अपने विभिन्न निबन्धों में चिन्ता जतायी है और भारतीय जनता को समय रहते जागृत होने का सन्देश भी दिया है। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में कहा है— "दुराग्रह और हठवाद को छोड़कर एवं द्वेषपूर्ण शब्दों के व्यवहार से दूर रहते हुए हमें सर्वत्र समन्वय और सद्भाव को आगे बढ़ाना चाहिए। प्रबुद्ध चिन्तकों और शासकों में सम्भूय-समुत्थान की और सामूहिक नेतृत्व की भावना का विकास अपेक्षित है। अन्यथा व्यक्ति का अहंकार आगे भी विश्वाहन्ता को मलिन करता रहेगा"।

पंडित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के इस परामर्श को प्रत्येक धर्मावलम्बी को अपनाना चाहिए। तभी हम संघर्ष का रास्ता छोड़कर शान्ति के मार्ग पर चल सकेंगे। पंडित द्विवेदी जी "अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्" इस उक्ति को सार्थक करते हुए अपनी वृद्धावस्था में अस्वस्थ रहते हुए भी शास्त्रचिन्ता में व्यस्त रहते हैं। "जितना व्यस्त उतना स्वस्थ" हिन्दी की यह लोकोक्ति आपके जीवन में चरितार्थ हो रही है। हम यह मंगलमय कामना करते हैं कि काशी विश्वनाथ, माता अन्नपूर्णा एवं जगद्गुरु विश्वाराध्य की असीम कृपा से आप जीवन भर मानसिक रूप से स्वस्थ रहें और आपके द्वारा निरन्तर साहित्यसेवा होती रहे।

इत्याशिषः



प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति संबन्धी निबन्ध-संग्रहों की शृंखला में एक नई कड़ी हम जोड़ने जा रहे हैं। इसका नाम ''धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष'' रखा गया है। यहाँ संगृहीत १२ निबन्धों और अन्तिम ग्रन्थ-समालोचना में धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष पर और उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करने की पद्धति पर विचार किया गया है। हम समझते हैं, इस सम्बन्ध में हमारा यह अन्तिम प्रयास है। इसीलिए यहाँ परिशिष्ट के रूप में अपने आठ ग्रन्थों में चर्चित प्रमुख विषयों का उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में कर जहाँ-जहाँ इनकी विस्तृत चर्चा देखी जा सकती है, उनका स्थान-निर्देश कर दिया गया है।

''भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप'' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'अपनी बात' शीर्षक से उन ग्रन्थों में विवेचित ११ प्रमुख विषयों की चर्चा की गई है। उसी पद्धति से यहाँ परिशिष्ट में अक्षरानुक्रम से स्थापित टिप्पणियों में विभिन्न विषयों को देखा जा सकता है, जैसे कि 'अकार' के विषय में सिद्धान्तप्रकाशिका की प्रथम पृष्ठ की टिप्पणी में तथा अन्यत्र भी।

इन ग्रन्थों की प्रस्तावना और उपसंहार भाग में भी ये विषय देखे जा सकते हैं। जैसे कि भार०, सि० प्र०, पार०, सि० सा० के उपोद्घात या प्रस्तावना में तथा भार० (पृ० १६५-१८०), एक० (पृ० १७५-१९०), सांस्कृ० (पृ० ११९-१२१, १३८-१३९) आदि के उपसंहार भागों में।

आचार्य रजनीश को इधर भगवान् से भी ऊपर बैठा दिया गया है। कौल सम्प्रदाय के उपदेशों के प्रसंग में हमने श्रीमद्भागवत महापुराण की ''जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः'' (१.५.१५) इस उक्ति को उद्धृत किया है। रजनीश के उपदेशों के माध्यम से आज उस कालातीत प्रक्रिया के कर्मकाण्ड को पुनः जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। तान्त्रिकों के जादू-टोना वाले कर्मकाण्ड के समान ही 'योगा' के नाम से भारतीय योगशास्त्र को विद्रूप करने वालों की नामावली में इनका नाम सबसे ऊपर रखने लायक है। कालातीत असांस्कृतिक गतिविधियों को जीवित करने का यह दुष्प्रयत्न इस विश्व को ही विद्रूप नहीं बना देगा, समझदार व्यक्ति को भी भ्रम में डाल देगा। हमने देखा है कि सही रास्ते पर चल रहा एक व्यक्ति किस तरह से इनके संपर्क से मार्गच्युत हो गया। आजकल की दोषपूर्ण राजनीति भी ऐसे ही व्यक्तियों के द्वारा संचालित है। भारतीय संस्कृति को अपसंस्कृति की ओर ढकेलने वाले 'योगा' की पद्धति से अपने को 'शरणा', 'शुक्ला' जैसे शब्दों से अलंकृत करने वाले इसी देश के आन्तरिक तत्त्व हैं। बाहर से इसको विकृत करने वालों का दुष्प्रयत्न तो निरन्तर चल ही रहा है।

ग्रन्थ में समाविष्ट निबन्धों के विषयों का संक्षिप्त परिचय हम यहाँ विषय सूची के साथ ही छोटे अक्षरों में दे रहे हैं, अतः अब उसको पुनः न दुहरा कर प्रमुख सांस्कृतिक विषयों की ही चर्चा करते हैं।

यहाँ प्रारम्भ में ही दुनिया के प्रमुख छः धर्मों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। काशी के राजघाट पर स्थित सर्व सेवा संघ ने श्रीकृष्णदत्त भट्ट रचित ''धर्म क्या कहता है?'' शीर्षक ग्रन्थमाला के १२ भागों में इनके साथ चीन के ताओ और कनफ्यूश धर्मों का तथा सिख धर्म का भी कुछ विस्तार से परिचय दिया है। इनमें से सभी भागों की पृष्ठ संख्या ६० से १०० पृष्ठों के अन्दर ही है। प्रकाशकीय वक्तव्य में सर्वत्र सत्य, प्रेम और करुणा को सभी धर्मों का प्रेरणास्रोत माना गया है। थोड़े ही समय में इनके अनेक संस्करण हो गये, इससे इस ग्रन्थमाला की लोकप्रियता स्पष्ट झलकती है।

काका कालेलकर ने वैदिक धर्म के अतिरिक्त जरथुष्ट्र (पारसी) और यहूदी धर्म का परिचय देकर बताया है कि यहूदी धर्म से ईसाई-क्रिश्चियन धर्म निकला और वैदिक सनातनी धर्म से जैन और बौद्ध धर्म। इसी तरह वे लिखते हैं कि हजरत इब्राहीम के उपदेशों से ही कुरान-शरीफ का मोहम्मदी धर्म निकला। हम मान सकते हैं कि सिख धर्म भी सनातनी धर्म से ही निकला है। प्रस्तुत ग्रन्थमाला में जैन और बौद्ध धर्म का अलग-अलग परिचय दिया गया है। चीन के प्राचीन धर्म और सिख धर्म का भी समावेश कर यहाँ दुनिया के नौ प्रधान धर्मों का संक्षिप्त परिचय मिलता है।

ग्रन्थमाला का प्रथम भाग ''धर्मों की फुलवाड़ी'' शीर्षक को समर्पित है। यहाँ प्रायः इन सभी धर्मों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आगे के तीन भागों में वैदिक धर्म को, ५वें भाग में जैन और छठे भाग में बौद्ध धर्म को स्थान मिला है। यही क्रम उचित भी है। काका कालेलकर भी इसी क्रम को मान्यता देते हैं। आजकल के अनेक इतिहासलेखक बौद्ध धर्म को प्रथम स्थान पर रखते हैं। कालिक क्रम से यह उचित नहीं है, क्योंकि जैनों के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ आधुनिक ऐतिहासिकों की दृष्टि में भी इतिहास-पुरुष हैं और भगवान् बुद्ध और महावीर से प्रायः तीन शताब्दी पहले इनकी स्थिति मानी गई है। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के जैन खण्ड में इनका गौण रूप से उल्लेख अवश्य हुआ है (पृ० ६)।

आगे के सातवें भाग में पारसी (जेदावेस्ता और पहलवी), आठवें में यहूदी, नवें में चीन के प्राचीन ताओं और कनफ्यूश धर्मों, दसवें में ईसाई, ११वें में इस्लाम और १२वें में सिख धर्म का परिचय समाविष्ट है। इस प्रकार इन १२ पुष्पों की ग्रन्थमाला में दुनिया के प्रधान नौ धर्मों का स्वरूप संक्षेप में बताया गया है। काका कालेलकर के ग्रन्थ में भी वस्तुतः सात धर्मों का उल्लेख है, किन्तु उन्होंने आत्मतुष्ट धर्मों में जैन धर्म का समावेश कर आत्मतुष्ट तीन और स्पर्धालु तीन—इस प्रकार छः धर्मों को ही मान्यता

दी है। जैन और बौद्ध धर्म का विकास यद्यपि भारतीय परम्परा में ही हुआ है, किन्तु आजकल इन दोनों धर्मों को पृथक् मान्यता मिली हुई है। श्रीयुत लक्ष्मण शास्त्री जोशी जैन और बौद्ध धर्म पर उपनिषदों के उपदेशों का प्रभाव मानते हैं, किन्तु इन पर कृतान्तपंचक में परिगणित सभी पाँचों सिद्धान्तों का प्रभाव तरतमभाव से मानना पड़ेगा। इस विषय की समीक्षा अभी पूरी तरह से नहीं हो पाई है। इतना निश्चित है कि जैन और बौद्ध धर्म पर उपनिषदों के समान सांख्य और योगदर्शन का और पांचरात्र (वैष्णव) तथा पाशुपत (शैव) मत का भी प्रभाव है।

प्रस्तुत ग्रन्थमाला में ही नहीं, प्राय: आजकल के सभी इतिहास-ग्रन्थों में प्राचीन सांख्य, योग और पांचरात्र-पाशुपत मतों की बहुत कम चर्चा मिलती है। सांख्य और योग का छ: दर्शनों में और पांचरात्र एवं पाशुपत मत का वैष्णव और शैव पुराणों में गौण रूप से अवश्य समावेश कर लिया गया है। प्राचीन पुराणों के विषय में हमें बहुत कम जानकारी है, किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान में मान्यता- प्राप्त अठारह महापुराणों पर कृतान्तपंचक का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फलत: भारतीय धार्मिक इतिहास की यह बहुत बड़ी विडम्बना है कि यहाँ विगत तीन हजार वर्षों में विकसित आगम-तन्त्रशास्त्र की पूरी उपेक्षा कर दी गई है। इसीके कारण भारतीय संस्कृति अपसंस्कृतियों के आगे धूलि-धूसरित हो गई है और उन मिथ्या आक्षेपों का शिकार हो गई है, जिनका समाधान इन शास्त्रों में आज से एक हजार वर्ष पहिले ही अवश्य प्रस्तुत कर दिया गया था। पूरे देश को अपने महनीय उपदेशों से प्रबुद्ध करने वाली सन्तों की वाणियों पर भी इनका अक्षुण्ण प्रभाव देखा जा सकता है।

इसी पृष्ठभूमि में हम प्रस्तुत ग्रन्थमाला की संक्षिप्त समीक्षा कर देना चाहते हैं। ''धर्मों की फुलवाड़ी'' शीर्षक पहले भाग में पूरी ग्रन्थमाला का सार प्रस्तुत किया गया है। यहाँ इस दुनिया के अनेक धर्मों की सूचना देकर 'धर्म' शब्द के अर्थ को एवं उसके बाह्य और आन्तर स्वरूप को बताया गया है। चित्त की शुद्धि पर यहाँ विशेष जोर दिया गया है और इस प्रसंग में सन्त कबीरदास और भक्त नरसी मेहता के वचनों को उद्धृत किया गया है। इन वचनों पर हम कश्मीर में नवीं शताब्दी में विद्यमान मालिनीविजयतन्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही ''यं शैवा: समुपासते'' इस प्रसिद्ध श्लोक के उद्धृत किया गया है। इसमें 'हिन्दु' शब्द की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में वैदिक धर्म को यही नाम दे दिया गया है, जो उचित नहीं है। यहाँ के २-४ भागों में भी वैदिक धर्म के रूप में ही यह वर्णित है। इस सम्बन्ध में काका कालेलकर की उक्ति अधिक सही है कि इसको हम कहने लगे 'सनातन धर्म' और परदेशियों ने इसको 'हिन्दी धर्म' नाम दिया। ''भारतीय संस्कृति'' नामक अपने ग्रन्थ में श्री साने गुरु जी ने भी कहा है—'''हिन्दू' भारतीय संस्कृति का शब्द

नहीं है। भारत में बाहर के लोगों ने हमको हिन्दू बनाकर एक घेरे में, एक कमरे में बिठा दिया और हम भी इसमें आनन्द मानने लगे।'' (पृ० २४१)। श्री साने गुरु जी के इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि यहाँ वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के उदाहरणों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट अवदानों को उजागर किया गया है। इस बाबत हम बहुत कुछ लिख चुके हैं।

प्रस्तुत भाग में जैन, बौद्ध, इस्लाम, सिख, पारसी और ईसाई धर्मों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। विभिन्न उपासना-विधियों की भी यहाँ चर्चा मिलती है, किन्तु वराहमिहिर की उक्ति के अनुसार अपनी-अपनी पद्धति से ही अपने-अपने इष्टदेव की उपासना की जाती है, उनको आपस में मिलाया नहीं जाता। उपासना का भेद होने पर भी यहाँ उपास्य की एकता को भलीभाँति समझाया गया है। इस प्रसंग में हम कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास के रघुवंश की और शिवभक्त पुष्पदन्त के महिम्नस्तव की उक्ति में इस विषय को बहुत पहिले उद्घाटित कर दिया गया था। धर्म की व्याख्या के प्रसंग में यहाँ (पृ० ५०) प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक रसेल को स्मरण किया गया है। इसी तरह की एक कथा महाभारत में भी देखने को मिलती है। स्पष्ट है कि इन पर अपने-अपने देश की संस्कृति की स्पष्ट झलक मिलती है।

प्रस्तुत ग्रन्थमाला के २-४ भागों में वैदिक धर्म के नाम से सनातन धर्म का ही परिचय दिया गया है। द्वितीय भाग में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत् साहित्य का, तृतीय में स्मृतियों के साथ वाल्मीकिरामायण, योगवासिष्ठ, महाभारत और दर्शनशास्त्र का तथा चतुर्थ भाग में भागवत धर्म, भगवद्गीता, पुराण, भागवत और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का समावेश किया गया है। ये सभी शास्त्र सनातन धर्म के प्रमुख अंग हैं।

तृतीय भाग के प्रारम्भ में 'हिन्दु' शब्द की दी गई परिभाषा (पृ० ५) प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। ऊपर के अनुच्छेद में किया गया 'वेद' शब्द का प्रयोग भी सही नहीं है। इसके स्थान पर संहिता शब्द का प्रयोग होना चाहिए। विशाल वैदिक वाङ्मय संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के रूप में विभक्त है और क्रमश: इनका सम्बन्ध चार आश्रमों से जोड़ा गया है। पाणिनि व्याकरण के पातंजल महाभाष्य के प्रारम्भ (पस्पशाह्निक) में चारों वेदों की ११३१ शाखाओं का उल्लेख मिलता है। तदनुसार यजुर्वेद की १०१, सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की २१ और अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं। मान्यता है कि प्रत्येक शाखा के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भिन्न-भिन्न हैं। इस विशाल साहित्य का अब बहुत थोड़ा अंश बच पाया है। आजकल १०८ ही नहीं, लगभग ३०० उपनिषदें अवश्य उपलब्ध हैं।

तृतीय भाग में वर्णित साहित्य का ऐतिहासिक क्रम वाल्मीकिरामायण, महाभारत, स्मृतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र और योगवासिष्ठ होना चाहिये। योगवासिष्ठ की रचना यहाँ सभी भारतीय दर्शनों का विकास होने के बाद, प्रधान रूप से कश्मीर में विकसित स्पन्द-प्रत्यभिज्ञा दर्शन के उपरान्त हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थमाला में तान्त्रिकी श्रुति का भी परिचय नहीं दिया गया है। तृतीय भाग में ही पुराणों की नामावली देते समय (पृ० ९) वायुपुराण के स्थान पर शिवपुराण उल्लिखित है, यह भी ठीक नहीं है। इसी तरह से नारदीय पुराण के स्थान पर नारायण पुराण नाम दिया गया है। इस नाम का कोई पुराण नहीं है। स्मार्त शब्द की परिभाषा (पृ० १०) भी अधूरी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह है चार पुरुषार्थों का क्रम। इसी क्रम से इनका परिचय भी दिया जाना चाहिये (पृ० १५)। धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बन पाता है।

पाँचवें भाग में जैन धर्म का और छठे भाग में बौद्ध धर्म का परिचय दिया गया है। जैन धर्म के २४ तीर्थंकरों की नामावली यहाँ (पृ० १०) अवश्य दी गई है, किन्तु इनमें प्रधानता भगवान् महावीर को ही दी गई है। इनसे २५० वर्ष पहले हुए २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की चर्चा यहाँ गौण रूप से ही मिलती है (पृ० ६)। जैन धर्म के प्रधान प्रवर्तक महावीर ही माने गये हैं। इस धर्म की दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी नामक तीन प्रधान शाखाओं का परिचय भी यहाँ दिया गया है। हम समझते हैं कि जैन धर्म का सर्वांगपूर्ण स्वरूप यहाँ प्रदर्शित है।

बौद्ध धर्म के विषय में ऐसा नहीं हो पाया है। हीनयान, महायान और पारमितायान की चर्चा यहाँ अवश्य की गई है, किन्तु यहाँ त्रिपिटक के स्थान पर जातककथा को पहला स्थान दिया गया है। धम्मपद की चर्चा यहाँ अवश्य की गई है, किन्तु महायान, प्रज्ञापारमितायान और मन्त्रयान के विशाल संस्कृत साहित्य और बौद्ध सिद्धों के अपभ्रंश भाषा में रचित साहित्य की कोई चर्चा नहीं की गई। ''निगमागम संस्कृति'' (पृ० १२९-१४६) में समाविष्ट ''बौद्ध ग्रन्थ-सम्पत्ति'' शीर्षक हमारे निबन्ध में इनमें से कुछ का परिचय देखा जा सकता है। हम बहुत जगह यह बता चुके हैं कि वैदिक धर्म की तृतीय एवं जैन और बौद्ध धर्म की तृतीय परिणति में जो अद्भुत समानता देखने को मिलती है, उसीको 'सनातन धर्म' नाम दिया गया है, किन्तु आज परायों के द्वारा हमारे ऊपर थोपे गये 'हिन्दू धर्म' शब्द को मान्यता मिल गई और जैन एवं बौद्ध धर्म को ही नहीं, सिख धर्म को भी उससे अलग कर दिया गया है।

८ से लेकर ११ तक के भागों में वर्णित धर्मों के और उनके साहित्य के बाबत हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है, अतः इनकी हम संक्षेप में ही चर्चा करेंगे। ७वें भाग में वर्णित पारसी धर्म का प्रारंभिक स्वरूप वैदिक भाषा और पद्धति से तथा अन्तिम १२वें

भाग में वर्णित सिख धर्म का स्वरूप, जिसकी चर्चा अभी ऊपर के अनुच्छेद में की गई है, सनातन धर्म से अलग नहीं है। सिद्धों, नाथों, भक्तों और सन्तों की परम्परा से हम सिख-गुरुओं की परम्परा को कभी अलग नहीं कर सकते। गाथा हो या अवेस्ता, अवेस्ता हो या पहलवी भाषा का साहित्य, इनमें सर्वत्र असत् से सत् की ओर बढ़ने के औपनिषद उपदेशों का अनुवर्तन देखने को मिलता है। हम बता चुके हैं कि ऋग्वेद की और जेन्दावेस्ता की भाषा में उल्लेखनीय समानता है। तन्त्रयात्रा (पृ० २१६-२१७) में संगृहीत एक टिप्पणी में हमने इस विषय की चर्चा की है। यह ग्रन्थ पूना के वैदिक शोध संस्थान से देवनागरी लिपि में प्रकाशित हो चुका है। यहाँ भी सातवें भाग के प्रारम्भ (पृ० ६-७) में यह विषय चर्चित है। भारतीय भाषाओं को जैसे हम संस्कृत, मध्यकालीन प्राकृत-अपभ्रंश और आधुनिक सभी भाषाओं में विभक्त करते हैं, उसी तरह ईरान की भाषाओं को भी प्राचीन गाथा, मध्यकालीन पहलवी और आधुनिक पारसी भाषा के रूप में देख सकते हैं। इसी तरह गुरु-ग्रन्थ-साहब को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम-तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि में रचित भारतीय साहित्य से यह पूरी तरह से ओत-प्रोत है। सन्त कबीर, रैदास आदि की वाणियाँ ही नहीं, संस्कृत कवि जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोक भी यहाँ संगृहीत हैं।

बौद्ध धर्म का परिचय देते समय छठे भाग में यह बताया गया है कि चीन का भी यह प्रधान धर्म है। द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारम्भ में वहाँ और उसके आसपास अन्यत्र भी इस धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। यहाँ नवें भाग में बौद्ध धर्म के पहिले विद्यमान वहाँ के **ताओ** और **कनफ्यूश** धर्मों का परिचय दिया गया है। चीन के इन तीन प्रधान धर्मों की चर्चा कर यहाँ ताओ और कनफ्यूश के बुनियादी सिद्धान्तों का उल्लेख कर इनके प्रवक्ता लाओत्से आदि अनेक आचार्यों का परिचय दिया गया है। अकथनीय, अनाम, रहस्यमय जैसे शब्दों से जिस तत्त्व का विवेचन हुआ है, उसका स्वरूप इन्हीं से मिलते-जुलते शब्दों में शाक्त तन्त्रों में भी उपदिष्ट है। कुछ विद्वानों का कहना है कि शाक्त रहस्यवाद पर ताओ धर्म का प्रभाव था। भारतीय नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में भी इस तरह की समानता देखी जा सकती है। ज्ञानी को यहाँ बालक की तरह बताया गया है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि ज्ञानी को बालक की तरह रहना चाहिए। ''मानापमानयोस्तुल्यः'', ''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'' जैसे वचन और महात्मा गांधी के तीन बन्दरों की तरह आँख, कान और मुँह बन्द रखने की बात भी यहाँ बताई गई है।

ऊपर वर्णित सभी धर्म किसी न किसी तरह वैदिक सनातन धर्म की परिधि के आसपास हैं। इसी तरह हम यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों की एकरूपता को सेमेटिक धर्म के रूप में स्थापित कर सकते हैं। यहाँ के ८वें भाग में यहूदी, १०वें में

ईसाई और ११वें भाग में इस्लाम धर्म के इतिहास और उपदेशों को देश और काल की परिधि में संकलित किया गया है। इन सभी धर्मों में मूर्तिपूजा निषिद्ध है। जन्मान्तर को यहाँ मान्यता नहीं दी गई। इनके प्रधान ग्रन्थ और प्रवर्तक आचार्यों के उपदेशों का संग्रह अन्य भागों की भाँति इन भागों में भी है।

यहूदी धर्म में रिश्वत लेने को अमान्य घोषित कर दिया गया था। यह सारी पृथिवी परमेश्वर की है, इस उक्ति को हम आचार्य विनोवा भावे के भूदान आन्दोलन का प्रेरणास्रोत मान सकते हैं। आलस्य को छोड़ने और मन की शुद्धि पर भी यहाँ जोर दिया गया है। ऐसे उपदेशों से हमें इस धर्म की उत्कृष्टता का अच्छा परिचय मिलता है। काका कालेलकर ने यहूदी धर्म को आत्मतुष्ट कहा है, अर्थात् इस धर्म के अनुयायियों की धर्मान्तरण में कोई रुचि नहीं है। स्वर्ग और नरक के अतिरिक्त मोक्ष की कल्पना किसी भी सेमेटिक धर्म में नहीं है।

भारतीय सनातन धर्म में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की तरह ईसाई धर्म में परमपिता परमात्मा, भगवान् का इकलौता पुत्र ईसा और पवित्र आत्मा की सत्ता स्वीकार की गई है। चर्च और बाइबिल को धर्म का मूल आधार माना गया है। ईसा के उपदेशों को यहाँ बड़ी स्पष्टता से संगृहीत किया गया है। बाइबिल में कही गई बातों को भी उसी पद्धति से उपस्थित कर इस महनीय धर्म के स्वरूप को उजागर किया गया है। इन उपदेशों का अनुसरण कर व्यक्ति अपने को धन्य मान सकता है। पवित्र आत्मा, अर्थात् ईसाई सन्तों के उपदेश भी यहाँ संगृहीत हैं।

इस्लाम का अर्थ है—शान्ति। एक अल्लाह को मानना, सबके साथ भाईचारा रखना, पसीने की कमाई खाना, सदाचार का पालन करना—यह है इस्लाम की शिक्षा। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के ११वें भाग में इस्लाम धर्म का परिचय, मुहम्मद साहब की जीवनी और उनकी पवित्र वाणी के उत्कृष्ट अंश तो यहाँ दिये ही गये हैं, सूफी धर्म और सूफी सन्तों की पवित्र वाणी की झलक भी यहाँ प्रस्तुत की गई है। सत्य, प्रेम और करुणा की त्रिवेणी अपनी गति से यहाँ भी प्रवाहित हो रही है।

समीक्ष्य ग्रन्थ के ११वें भाग में ही इस्लाम शब्द के अर्थ को बताते हुए यहाँ की बुनियादी शिक्षा और साहित्य का परिचय दिया गया है। हजरत मुहम्मद साहब की जीवनी को प्रस्तुत कर कुरान शरीफ की महनीय उक्तियों का विभिन्न शीर्षकों में संग्रह किया गया है। धर्म क्या है ? लड़ो मत, किसी को सताओ मत, सदाचार का पालन करो, नाप-तौल में कमी न करो, जैसे शीर्षकों से यहाँ मानवता के पोषक उपदेश संगृहीत हैं। महाभारत में काशी के व्यापारी तुलाधार की कथा मिलती है, जिसमें नाप-तौल में ईमानदारी बरतने के कारण वह अनेक वर्षों तक कठोर तपस्या करने वाले तपस्वी से श्रेष्ठ माना गया है। मुहम्मद साहब की अनेक महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ दी गई हैं।

मनुष्य को अच्छा मानव बनाने के लिए बिल्ली, ऊँट, चिड़िया आदि के उदाहरण भी यहाँ दिये गये हैं।

इसी भाग में इस्लाम के महनीय आध्यात्मिक उपदेशों से लबालब भरा **तसव्वुफ** शीर्षक हिस्सा भी है, जहाँ सूफी साधना का परिचय देते हुए किताबी ज्ञान की अपेक्षा अनुभव को वरीयता दी गई है और 'सूफियों ने कहा है' इस प्रकरण में अनेक शीर्षकों के माध्यम से इनके उपदेशों को प्रस्तुत किया गया है। कश्मीर में विकसित प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पृष्ठभूमि में हम इन उपदेशों को अधिक सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं, जहाँ साधना के क्षेत्र में गुरु और शास्त्र की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान को वरीयता दी गई है। अब तक शांकर वेदान्त की पृष्ठभूमि में इसका अनुशीलन किया गया है। सुधारवादी आन्दोलन की भी यही स्थिति है।

इस तरह हमने यहाँ काका कालेलकर और पं० श्रीकृष्णदत्त भट्ट के द्वारा प्रस्तुत धर्मों के स्वरूप को संक्षेप में दिखाया है। इन सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने का उपदेश दिया जाता है। इसकी समीक्षा अपेक्षित है। **आत्मतुष्ट** धर्मों से दुनिया को कोई खतरा नहीं है, किन्तु **स्पर्धालु** धर्मों के प्रति हम ऐसा नहीं कह सकते। ये स्पर्धालु सेमेटिक धर्म पूरी दुनिया को धर्मान्तरण के माध्यम से अपने घेरे में लाने के लिए दिन-रात लगे हुए हैं और हठवादिता एवं आतंकवाद का सहारा लेने से भी नहीं चूकते। अपने देश में हम कश्मीर और असम के आस-पास के क्षेत्रों में उनके इस दुराग्रही स्वरूप का वर्षों से सामना कर रहे हैं। फलत: इन धर्मों के उदार स्वरूप के प्रति हम समादरभाव तो अवश्य रख सकते हैं, किन्तु समभाव रखने पर जैसे पूर्व में यह देश विभाजित हो गया, आगे भी इसकी सम्भावना बनी रहेगी। आज दुनिया के लिए यह अपेक्षित है कि इन सभी धर्मों के उदार तत्त्वों के प्रति समादरभाव रखते हुए उनको अपने जीवन में उतारने के लिए पूरी सद्भावना प्रदर्शित की जाय। विश्व-संस्कृति और एक विश्व की कल्पना तभी सार्थक हो सकती है।

दुनिया के सभी राष्ट्रों और धर्मों के प्रति समादरभाव की स्थापना के लिए ''भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप'' के प्रारम्भ में 'अपनी बात' कहते हुए हमने ११ विशिष्ट विषयों की चर्चा की है। इनके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट में स्थापित टिप्पणियों में इसी तरह के अनेक विषयों की चर्चा संक्षेप में की गई है। हमारा विचार है कि इनमें से कुछ विषयों पर पूरी दुनिया का ध्यान जितना जल्दी आकृष्ट होगा, उतनी ही तीव्रता से यहाँ सुख-शान्ति का संदेश प्रसारित हो सकेगा।

सबसे पहले परस्पर विद्वेष फैलाने वाले शब्दों के व्यवहार पर नियन्त्रण स्थापित हो, यह आवश्यक है। भारतीय मूल के धर्म दुनिया में सर्वत्र उदारता का प्रसार करने में और सेमेटिक धर्म, विशेष कर इस्लाम धर्म संकीर्णता के प्रसार में निरत हैं। आजकल

के तथाकथित बुद्धिजीवी इस्लामिक प्रवृत्ति को सेक्युलर और भारतीय मनोवृत्ति को सांप्रदायिक बताने में प्राणपण से लगे हुए हैं। कम्युनिस्टों की मनोवृत्ति इस्लामिक सोच से कोई भिन्न नहीं है। ये भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग गलत अर्थ में ही करते हैं। साथ ही वे अपने को **प्रगतिशील** तथा भारतीयता के अनुयायियों को **प्रतिगामी** कहने में कोई संकोच नहीं करते। इस मनोवृत्ति पर लगाम लगनी चाहिए।

आर्य-द्रविड़, गंगा-जमुनी संस्कृति जैसे अनेक वैवर्तिक, अर्थात् भ्रामक शब्दों का सार्वजनिक प्रयोग भी विघटनवादी और विलगाववादी मनोवृत्ति के प्रसार में ही अपना योगदान कर रहे हैं। अतिक्रमण, अल्पसंख्यक, असहिष्णुता, आग्रह, (दुराग्रह=धार्मिक हठ), आतंकवाद, आत्मघात, आरक्षण, नेहरु-संस्कृति, पूजा स्थानों का विद्रूपीकरण, बन्दर-घुड़की हठवाद—जैसे शब्दों और कृत्यों के माध्यम से भी अपसंस्कृति का प्रसार हो रहा है। इसे रोका जाना चाहिए। भारत में हिन्दु, मुस्लिम, ख्रीष्ट धर्म और कम्युनिज्म के रूप में चतुष्कोणीय संघर्ष चल रहा है। इसे भी रोका जाना चाहिए। नेकटाई बांधने का प्रचलन आजकल बच्चों के स्कूलों में भी बढ़ता जा रहा है। पुष्पहार (माला) पहनाने की और गुलदस्ता भेंट करने की जगह आजकल **बुके** ने ले ली है। **बर्थ डे** को मनाने में मोमबत्तियों का बुझाना भारतीय परम्परा के विपरीत है।

एप्रिल फूल, गुड फ्राई डे तक को गनीमत है, अब वेलेन्टाइन डे, वाइन डे, आदि के नाम पर पाश्चात्य अपचारों को भी बढ़ावा देने का अपकृत्य किया जाने लगा है। समय रहते इसे भी रोका जाना चाहिए। जेहादी मनोवृत्ति और मध्यकालीन बर्बरता ने इस देश की उदार मनोवृत्ति पर विपरीत प्रभाव डाला है। बालकों, वृद्धों और महिलाओं की हत्या भारतीय संस्कृति में निषिद्ध मानी गई है। आत्महत्या को भी जघन्य अपराध माना गया है। मंडल आयोग की स्थापना जातिग्रह (जातिवाद) से छुटकारा पाने के लिए की गई थी। उसके माध्यम से मूल समस्या का तो कोई समाधान नहीं निकल सका, उलटे आत्महत्या का नया सिलसिला इसको लागू करने वालों की नासमझी से निकल पड़ा। भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को सही तरीके से समझने की मनोवृत्ति भारतीय राजनीतिज्ञों में जागे, यह बहुत जरूरी है।

भारत में विद्यमान मेकाले और मार्क्स के मानसपुत्र जब तक ब्रिटिश कुटिलनीति और नेहरु-संस्कृति के जाल से अपने को निकाल नहीं पावेंगे, जब तक संसार के सर्वोत्कृष्ट भारतीय ज्ञान-विज्ञान को भगवाकरण के नाम पर तिलांजलि देना बन्द कर उसके उत्कृष्ट अवदानों को आत्मसात् करने में समर्थ नहीं होंगे, तब तक हम ब्राह्मणवाद, मनुवाद, ब्राह्मण-साहित्य, श्रमण-ब्राह्मण जैसे वैवर्तिक (भ्रामक) शब्दों के मायाजाल से मुक्त न हो सकेंगे और आधुनिक तथाकथित बुद्धिजीवियों और विशेष कर मार्क्सवादी पत्रकारों के द्वारा फैलाये गये मिथ्यावाद से भी, न केवल सामान्य जनता

को, संस्कार-शून्य राजनीतिज्ञों को भी बोध-भूमि में प्रवेश नहीं दिला सकेंगे। इस प्रसंग में हम इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि जैन विद्वानों ने ब्राह्मणवाद जैसे शब्दों के स्थान पर वैदिक धर्म जैसे सौम्य शब्दों का प्रयोग किया है। उसी तरह से महात्मा गांधी के अनुयायियों ने हिन्दु धर्म के स्थान पर सनातन धर्म शब्द को वरीयता दी है। आजकल के राजनीतिज्ञों में पक्ष-विपक्ष के स्थान पर परस्पर शत्रु-मित्रभाव को बढ़ावा मिल रहा है। गणतन्त्र के सम्यक्-संचालन के लिए इसका प्रतीकार हो, यह बहुत आवश्यक है।

हिन्दसा के नाम से प्रसिद्ध अंकविज्ञान पूरे विश्व को भारत की देन है। आजकल उसको भी गलत रूप में पेश करने का प्रयत्न चल रहा है। सन् २००० में ही २१वीं शती के प्रारम्भ की घोषणा कर दी गई, जबकि इसका आरम्भ २००१ में हुआ। इसी तरह से १ से १० संख्या तक का पहला दशक और इसी तरह आगे ९१ से १०० तक का दसवाँ दशक माना जायगा, किन्तु आजकल इस गणना को छोड़ दिया गया है और उसकी जगह साठ का दशक, अस्सी का दशक के रूप में इसको प्रस्तुत किया जाता है। पहला दशक, सातवाँ दशक आदि के रूप में इसको दिखाने वाले बिरले ही मिलते हैं। तिथि का आरम्भ सूर्योदय के साथ होता है, इसे हम भूल चुके हैं। मध्यरात्रि को तारीख बदलती है, तिथि नहीं। आजकल जन्म-दिन तो तारीख के हिसाब से मनाया ही जाने लगा है, श्राद्ध के लिए भी वह मान्य होती जा रही है और 'कल्याण' जैसी धार्मिक मासिक पत्रिका भी अनजाने में ही इसको बढ़ावा देने जा रही है। भारतीय पत्रकार भारतीय-पंचांग को हिन्दु-पंचांग और भारतीय तिथि को हिन्दु-तिथि लिखने लगे हैं।

हमें यह याद रखना चाहिए कि चान्द्र और सौर कालगणना के अनुसार दो तरह की कालगणना आजकल प्रचलित है। चान्द्र वर्ष में ३५५ और सौर वर्ष में ३६५ दिन होते हैं। भारतीय पंचांग में इस अन्तर को अधिकमास और क्षयमास का समावेश कर दूर कर दिया जाता है। इस प्रकार चान्द्र और सौर गणना का अन्तर समाप्त हो जाता है। पूरी दुनिया में हिन्दसा का ही प्रचार नहीं हुआ, पंचतन्त्र की कथाओं का प्रसार भी उसी काल-अवधि में सम्पन्न पारसी अनुवाद के माध्यम से हुआ है। संघ-परिवार के ८-१० सदस्यों को बाबरी ढाँचे के ढहाए जाने की तारीख तो मालूम थी, किन्तु भारतीय तिथि का कोई ज्ञान नहीं था। जब हम अपने पिता का श्राद्ध तारीख के हिसाब से मनाने लगेंगे, तो तिथि को याद रखने की आवश्यकता की क्या रहेगी? छत्रपति शिवाजी की जन्मतिथि के लिए वर्तमान महाराष्ट्र सरकार ने भी तो यही किया है। लोकमान्य तिलक का प्रदेश देश को किधर ले जा रहा है?

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उससे संबद्ध विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल, शिवसेना जैसे संघटनों को भारतीयता की रक्षा के लिए वही स्थान दिया जा सकता है, जो खेत की रक्षा के लिए बनाई गई कांटों की बाड़ का होता है, किन्तु ये सब आज 'गर्व से कहो हम हिन्दू हैं' का नारा लगाने लगे हैं। हम बता चुके हैं कि यह शब्द हमारा अपना नहीं है, हमारे ऊपर लादा गया है। इस शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो सिन्धु नदी के इस पार रहने वाली सारी भारतीय प्रजा हिन्दू है, किन्तु आजकल तो बौद्ध, जैन और सिख धर्म के अनुयायियों को भी हिन्दू नहीं कहा जाता। पुराने जमाने में श्रमण-ब्राह्मण की जो स्थिति थी, वही स्थिति आज हिन्दू-मुस्लिम की हो गई है।

हिन्दू शब्द का प्रयोग आजकल कायर, डरपोक और सब तरह की हीन-भावनाओं से ग्रस्त मानव-समुदाय के लिए होने लगा है और आपस में लड़ मरने की जयचन्दी मनोवृत्ति से आज भी इसका पिण्ड नहीं छूटा है। हमें अपनी भारतीयता पर गर्व होना चाहिए और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आधार पर भारतीयकरण की प्रक्रिया को सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ाना चाहिए। भारत में सनातन धर्म के रूप में जैसे सभी धर्मों और संस्कृतियों में सामंजस्य स्थापित किया जा सका, उसी तरह पूरी सद्भावना के साथ संसार के सभी धर्मों और संस्कृतियों में भी सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए। हमने ऊपर देखा है कि सभी धर्मों में ऐसे उदात्त तत्त्व विद्यमान हैं, जिनकी सहायता से यह कार्य किया जा सकता है।

धर्मों के समान ही हमें मिस्र, यूनान और तमिल देश की सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि के साथ, समस्त विश्व की प्राचीन धरोहर के साथ एकात्मता स्थापित करनी चाहिए। दुराग्रह और हठवाद को छोड़ कर एवं द्वेषपूर्ण शब्दों के व्यवहार से दूर रहते हुए हमें सर्वत्र समन्वय और सद्भाव को आगे बढ़ाना चाहिए। प्रबुद्ध चिन्तकों और शासकों में संभूय समुत्थान की और सामूहिक नेतृत्व की भावना का विकास अपेक्षित है, अन्यथा व्यक्ति का अहंकार आगे भी विश्वाहन्ता को मलिन करता रहेगा।

सुहृत्प्रवर प्रो० सत्यप्रकाश मित्तल जी ने और डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय ने इस ग्रन्थ को अपने सुझावों से परिष्कृत किया है। हम इनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

एक सूक्ति के साथ इस प्रस्तावना को हम पूरा करते हैं—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

वाराणसी
महाशिवरात्रि, संवत् २०६२

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय सूची



धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष

गत वर्ष (संवत् २०६१) बीकानेर (राजस्थान) के मानव प्रबोधन प्रन्यास (श्री लालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी) ने स्वामी श्री संवित् सोमगिरि जी के ग्रन्थ "कालजयी सनातन धर्म" का प्रकाशन किया था। इस पुस्तक का शीर्षक बहुत आकर्षक है। यहाँ कालजयी सनातन धर्म की विशेषता पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसंग में गांधीवादी चिन्तक काका कालेलकर की पुस्तक "समन्वय संस्कृति की ओर" भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। दुनिया के प्रधान छः धर्मों की चर्चा करते हुए यहाँ कहा गया है कि इनमें सबसे पुराना है वैदिक धर्म, जिसको आगे चलकर हम कहने लगे सनातन धर्म और परदेशी लोगों ने इसको नाम दिया हिन्दू धर्म (पृ० ८-९)।

परदेशियों के द्वारा दिया गया नाम ही आज सर्वत्र प्रचलित हो गया है और हम भी "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" का नारा लगाने लगे हैं। प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव भारतीय संस्कृति की चर्चा के प्रसंग में कहते हैं कि इस पूरी संस्कृति को 'सनातन धर्म' नाम दिया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द और मनीषिप्रवर डॉ० सम्पूर्णानन्द जैसे विचारकों की भी इसमें स्पष्ट संमति है। यह कहा जा सकता है कि जब तक हम सम्पूर्ण भारतीयता के लिए कोई सर्वमान्य शब्द स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक 'हिन्दू धर्म' के स्थान पर 'सनातन धर्म' शब्द को मान्यता मिल जानी चाहिए। समग्र भारतीय प्रजा को सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय बनाना उचित होगा। यह शब्द वेदों से लेकर सन्तों की वाणी तक की पूरी भारतीय प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करता है। महात्मा गांधी अपने को पक्का सनातनी मानते थे।

दुनिया के प्रधान छः धर्मों का परिचय देते हुए काका कालेलकर ने उक्त ग्रन्थ में आगे जरथुष्ट्र (पारसी) और यहूदी धर्म का भी परिचय देकर इन तीनों धर्मों को सनातनी धर्म माना है। वह इसलिए कि इन तीनों धर्मों की धर्मान्तरण में कोई रुचि नहीं है। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा है कि यहूदी धर्म से ईसाई-क्रिश्चियन धर्म निकला। वैदिक सनातनी

धर्म से दो धर्म निकले, जिन्हें जैन और बौद्ध धर्म कहते हैं। हजरत इब्राहीम ने जो धर्म चलाया, उसी में से कुरान-शरीफ का मोहम्मदी धर्म निकला। इसे दुनिया इस्लाम के नाम से पहचानती है। ऊपर के तीन धर्मों के साथ जैन धर्म को मिलाकर काका कालेलकर ने इनको 'आत्मतुष्ट' तथा बौद्ध, ईसाई और इस्लामी धर्म को 'स्पर्धालु' कहा है (पृ० ९-१०)। काका कालेलकर के इस प्रतिपादन से हम सहमत हैं। चीन की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। चीन में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ताओ और कनफ्यूश धर्म भी प्रचलित हैं। इनका परिचय सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थमाला में देखा जा सकता है। शायद धर्मों की स्पर्धा में ये भी शामिल नहीं हैं।

पूजा के बाह्य आडम्बरों को ही कर्मकाण्ड के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक धर्म (मजहब) में इनका अपना-अपना स्वरूप है। इन कर्मकाण्डों के कारण मानव-मन आपस में जुड़ता कम, जुदा ज्यादा होता है। वैदिक धर्म से लेकर इस्लाम धर्म तक के कर्मकाण्ड के स्वरूप में समानता कम, विविधताएँ ही अधिक हैं। कहीं-कहीं तो परस्पर विरोधी कर्मकाण्डों की भी सृष्टि हुई है। वे मानव-मन को राग-द्वेष से दूषित करने में अपनी भूमिका ज्यादा निभाते हैं। इस प्रसंग में हमें भागवत महापुराण का एक श्लोक (१.५.१५) याद आता है। उसमें बताया गया है कि धर्म के नाम पर घिनौनी बातों का प्रचार करने वाला यह समझ नहीं पाता कि मैं कितना अनर्थ करने जा रहा हूँ। किसी समय भारत में कौल मत की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को देखकर भागवतकार ने यह लिखा लगता है। वह पूरी तरह से आज के इस्लाम की आतंकवादी गतिविधियों पर भी लागू होता है। धर्म के नाम पर प्रचारित किये जाने वाले इस तरह के कार्यकलापों की आज का प्रगतिशील विचारक आलोचना नहीं करता। कम्युनिस्टों के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की भी इसमें बड़ी शोचनीय भूमिका है। यही कारण है कि सर्वधर्म-समादर के स्थान पर धर्मान्तरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल रहा है।

अमेरिका के शिकागो शहर में धर्म-सम्मेलन को संबोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित शरणागत जातियों को तथा विभिन्न धर्मों के

बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया था। मुझे यह बताने में गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत में आये और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने इस्लाम के आक्रमण से परसीक जाति की अपने यहाँ शरण देकर रक्षा की। स्वामी विवेकानन्द की इस सत्योक्ति का सेमेटिक धर्मों के पुरोधाओं पर विपरीत ही प्रभाव पड़ा है। स्वयं सबल ईसाई-सम्प्रदाय से प्रताड़ित होकर इस सम्प्रदाय का दुर्बल वर्ग भी कभी यहाँ शरण लेने आया था और चीनी तानाशाही से प्रताड़ित तिब्बती जाति को यहाँ शरण मिली, यह तो अभी हाल की बात है। इसी भारत को बर्बाद करने का षड्यन्त्र आजकल अन्दर और बाहर से यहाँ चल रहा है।

मौलाना बहीदुद्दीन खाँ जैसे सुलझे हुए मुस्लिम विद्वान् भी इस सांस्कृतिक उदारता और समरसता का श्रेय पारसियों और ईसाईयों को देते हैं। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरु ने भारतीय संस्कृति पर बहुत कुछ लिखा है, किन्तु इसे वे अपने जीवन में उतार न सके और न राष्ट्र को ही इस ओर ले जाने का कोई प्रयत्न किया। धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से तिब्बत का चीन की अपेक्षा भारत से अधिक गहरा सम्बन्ध है। श्रीलंका से आयातिक बौद्ध धर्म के कारण इसको झुठलाने की कोशिश की जा रही है। गोधरा काण्ड के बाद हुई गुजरात की घटनाओं का और छल-छद्म से कराये जा रहे धर्मान्तरण के खिलाफ उठी प्रतिक्रियाओं का सही मूल्यांकन नहीं किया गया। धर्मनिरपेक्षता का बुखार इतना चढ़ा कि महात्मा गांधी के प्रिय भजन को भी तिरस्कृत कर दिया गया। दूसरों की पीड़ा को समझना, उसकी सहायता करते हुए भी मन में अभिमान को प्रश्रय न देना, पर स्त्री और पर धन की लालसा न रखना—जैसे सद्‌गुणों के उपदेश के आगे 'वैष्णव जन' को साम्प्रदायिक घोषित करने वाली दृष्टि ही आज बिहार की समस्या बनी हुई है।

बाहरी देशों से शरणागत के रूप में आये धर्मों की तरह भारत में बसने वाली जनजातियों और आदिवासियों पर भी अपने विचार लादने का प्रयत्न

भारत ने कभी नहीं किया। सेमेटिक धर्मों ने इनके साथ कैसा व्यवहार किया है अथवा कर रहे हैं? इसका सबसे बुरा पक्ष है—परस्पर विद्वेष और राष्ट्रद्रोह की भावना को फैलाना। इसके कारण यह देश बहक रहा है। धर्मान्तरण के साथ धर्मनिरपेक्षता, सांप्रदायिकता, प्रगतिशीलता, प्रतिगामिता, भगवाकरण, मानवाधिकार जैसे शब्दों के माध्यम से सांस्कृतिक आक्रमण करने में भी इन धर्मों की छिपी पृष्ठभूमि को देखा जा सकता है। भगवाकरण के नाम पर हम भारतवर्ष में एक हजार वर्ष पहले विकसित समस्त उत्कृष्ट साहित्य-संस्कृति को तिलांजलि दे देना चाहते हैं और आज के प्रगतिशील कहलाने वाले भौतिकवादी देशों ने मानवाधिकार को भी बन्धक बना लिया है। धर्म को अफीम मानने वाले कम्युनिस्ट इनके साथ जा मिले हैं, यह भी भौतिकवादी दुनिया का एक आश्चर्य ही है। इस्लाम का भाई-चारा धर्मान्तरण के बाद शुरू होता है और ख्रीष्ट धर्म का सेवाभाव धर्मान्तरण के साथ समाप्त हो जाता है।

क्या यह धर्मान्तरण मानव-जाति को सुख-शान्ति देने में समर्थ है? क्या २१वीं शताब्दी में पूरा भारत खीष्ट्र धर्म में दीक्षित हो जायगा? प्रबुद्ध भारतीयों को आत्मनिरीक्षण करते हुए इन सब विकट प्रश्नों का उत्तर देना होगा। सनातनी दृष्टि ही (सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही) इनका सही समाधान खोज सकती है। आधारहीन हिन्दुत्व का अभिमान इस देश को बर्बादी की ओर ही ले जायेगा। सनातन धर्म पर आरोपित सभी आक्षेपों का समाधान भारतीय शास्त्रों ने आज से एक हजार वर्ष पहले ही प्रस्तुत कर दिया था। समस्त भारत में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सन्तों की वाणियों में भी सर्वत्र समादरभाव उजागर हुआ है। आज उसी मार्ग का सहारा लेने की आवश्यकता है। तभी भारतीय राष्ट्र की एकता बनी रह सकती है। तभी पूरी मानवता धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष से मुक्त हो सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम तुष्टीकरण से मुक्त समरस समाज की स्थापना में लग जाँय।



मुस्लिम तुष्टीकरण
(महात्मा गांधी और पं० नेहरु की भिन्न दृष्टि)

समाचार-साधनों में आजकल गांधी-नेहरु और नेहरु-गांधी शब्दों का प्रयोग प्राय: एक ही अर्थ में किया जाता है। यह उचित नहीं है। इस पर हम अपने संक्षिप्त विचार 'उत्सर्जन' मासिक पत्रिका के अगस्त, २००४ के अंक में 'बहुत बड़ा भ्रमजाल' (पृ० ६) शीर्षक से प्रकाशित करा चुके हैं।

वहाँ हमने लिखा है कि आखीर में श्री बलवीर पुंज जैसा समझदार स्तंभलेखक भी इस भ्रमजाल में फँस ही गया। वंशवाद की समालोचना करते हुए 'दैनिक जागरण' (१०-८-२००४) में इन्होंने लिखा है कि नेहरुवंश के साथ गांधी उपनाम का जुड़ना संयोग नहीं है।''' उनका यह लिखना ठीक ही है। यह किसी बहुत समझदार और घाघ किस्म के व्यक्ति का करिश्मा है। यहाँ नेहरु और गांधी के बीच का इन्दिरा शब्द पूरी समझदारी के साथ गायब कर दिया गया है। यहाँ का गांधी शब्द प्रियदर्शिनी श्रीमती इन्दिरा गांधी के पति श्री फिरोज गांधी से संबद्ध है। महात्मा गांधी से इसका कुछ भी लेना-देना नहीं है। श्री फिरोज गांधी पं० नेहरु के सबसे बड़े समालोचक थे और महात्मा गांधी वंशवाद से बहुत ऊपर। हम कह सकते हैं कि इस भ्रमजाल को फैलाने वाला, महात्मा गांधी को नेहरुवंश से जोड़ने वाला अपने दाँव में पूरी तरह सफल रहा है कि एक प्रबुद्ध स्तंभलेखक भी इसमें उलझ गया है। इतना ही नहीं, गांधीवादी संस्थान और कांग्रेस दल भी इस विषय में भटकाव में हैं।

हमें ऐसा लगा कि इस विषय पर कुछ विस्तार से लिखा जाना चाहिए, क्योंकि मुस्लिम तुष्टीकरण के प्रसंग में महात्मा गांधी को भी पं० नेहरु के साथ घसीटा जा रहा है, जब कि इस विषय में इन दोनों का दृष्टिकोण पूरी तरह से भिन्न था। हम लिख चुके हैं कि हिन्दु-मुस्लिम एकता के लिए किये गये महात्मा गांधी के सारे प्रयत्न पहले ब्रिटिश कुटिलनीति के कारण सफल न हो सके और बाद में उन्हींके अनुयायियों ने उनके बताए रास्ते को छोड़ दिया। यह भी हमने लिखा है कि महात्मा गांधी के भौतिक देह की हत्या तो

एक धार्मिक अतिवादी ने की, किन्तु उनके उदात्त विचारों को उनके ही कुछ बहुत नजदीकी लोगों ने सही तरीके से पनपने नहीं दिया।

महात्मा गांधी के हिन्दू-मुस्लिम एकता के सारे प्रयत्नों का सही मूल्यांकन हम बिच्छू और एक सन्त पुरुष के उदाहरण से कर सकते हैं। गर्मी के दिनों में तपती बालू पर पड़ा एक बिच्छू तड़फ रहा था। उधर से गुजरते महात्मा ने उसे देखा और उठाकर छाया में रख देने का प्रयत्न किया। स्वभाव के अनुसार बिच्छू ने उन्हें डंक मार दिया और वह फिर तपती बालू पर गिर पड़ा। साधु बाबा उसे बार-बार उठाते थे और वह डंक मारता जाता था। एक राहगीर ने उनको ऐसा करने से मना किया, तो उन्होंने कहा कि बिच्छू जैसा अबोध प्राणी जब अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, तो मैं अपने दयाभाव को कैसे छोड़ सकता हूँ। महात्मा गांधी के हिन्दु-मुस्लिम एकता के सारे प्रयत्नों को इसी पृष्ठभूमि में देखना चाहिए, जो उपनिषत्काल से चली आ रही, बुद्ध एवं महावीर के द्वारा परिपोषित और महनीय सन्तों तथा गुरुओं के द्वारा आचरित आदर्श भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप है। क्या पं० नेहरु ने इस दृष्टि का अनुसरण किया? 'हिन्दुस्तान की कहानी' (डिस्कवरी आफ इण्डिया) के लिखने वाले पं० नेहरु क्या अपने जीवन में उन उदात्त आध्यात्मिक विचारों को कभी उतार सके?

हिन्दु-मुस्लिम एकता के लिये किये गये महात्मा गांधी के कार्यों की समीक्षा करने का हमें पूरा अधिकार है। भारतीय मनीषा ने तर्क को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। मनुवाद और ब्राह्मणवाद जैसे नारों के माध्यम से तिरस्कृत मनुस्मृति का कहना है कि धर्म के रहस्य को वही जान पाता है, जो तर्क की कसौटी पर उसे परख सकता है। मनुस्मृति की इस उक्ति पर सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों को गंभीरता से विचार करना चाहिए। इसीके साथ हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दु-मुस्लिम एकता के प्रसंग में महात्मा गांधी के साथ पं० नेहरु के नाम को जोड़ना सही नहीं माना जा सकता।

महात्मा गांधी की निर्मम हत्या के बाद देश के वातावरण का अनुचित लाभ उठाते हुए पं० नेहरु ने धर्मनिरपेक्षता के बहाने मुस्लिम तुष्टीकरण को

बढ़ावा दिया, जो आज भी फलफूल रहा है। अब हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात आँख-ओझल कर दी गई है। इस स्थिति में पं० नेहरु के साथ महात्मा गांधी के नाम को जोड़ना कभी भी मान्य नहीं होना चाहिए। पं० नेहरु के नाम के साथ गांधी के नाम पर इन्दिरा गांधी को अवश्य रखा जा सकता है, क्योंकि इस गांधीवंश ने उनकी मुस्लिम तुष्टीकरण की परम्परा को ही आगे बढ़ाया है और आज भी कांग्रेस दल इस विषय में पं० नेहरु का अन्धानुसरण करता है, महात्मा गांधी की परम्परा का नहीं। हम यह अवश्य कह सकते हैं कि महात्मा गांधी के आदर्शवाद के स्थान पर इस विषय में सरदार पटेल के विचार अधिक व्यावहारिक थे।

आजकल मुसलमानों में मौलाना अबुल कलाम आजाद और जनाब रफी अहमद किदवई की राष्ट्रवादी परम्परा के स्थान पर वन्देमातरम् और सरस्वती वन्दना का विरोध करने वालों तथा भारत माता को डाइन कहने वालों की संख्या बढ़ रही है। सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम से शुरू हुई हिन्दु-मुस्लिम एकता लीग की स्थापना तक चलती रही। देश विभाजन के बाद राष्ट्रीयता की यह भावना मरती जा रही है और उसके स्थान पर आतंकवाद दिन-प्रतिदिन अपने पैर फैलाता जा रहा है।

पं० नेहरु को सही बताने के लिए गांधी जी के मुस्लिम तुष्टीकरण के अनेक उदाहरण दिये जाते हैं, किन्तु उनमें से एक में भी उन्होंने अपने किसी निजी स्वार्थ की सिद्धि की, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत पं० नेहरु ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए, अपनी प्रधानमन्त्री की गद्दी को बचाने और दुनिया की वाहवाही लूटने के लिए यह सब किया, इसको कौन नकार सकता है। देश की आर्थिक उन्नति के लिए किये गये इनके प्रयत्नों को हम नकार नहीं सकते, किन्तु आध्यात्मिकता के अभाव में इनका क्या हश्र हो रहा है, यह सब हम देख रहे हैं।

आज कांग्रेसदल पं० नेहरु की इसी आर्थिक मानसिकता से संचालित है। हमारा एक नया अनुभव तो हमें यह लिखने को मजबूर कर रहा है कि आजकल गांधीवादी संस्थान भी महात्मा गांधी की आध्यात्मिकता की अपेक्षा पं० नेहरु के पदचाप को अधिक सावधानी से सुन रहे हैं। वाराणसी

के राजघाट स्थित गांधी शोध संस्थान में अभी सम्पन्न हुई ''साम्प्रदायिकता और शिक्षा'' सम्बन्धी गोष्ठी में उपस्थित विद्वान् वक्ताओं के भाषणों से तो यही प्रतीत हो रहा था। भारतीय संस्कृति में सम्प्रदाय शब्द बहुत पवित्र माना जाता है। गुरुपरम्परा से प्राप्त पवित्र ज्ञान के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता था। किसी गोष्ठी में हमारे इन विचारों को सुनकर उस संस्था से संबद्ध हमारे एक मित्र की इच्छा हुई कि इस गोष्ठी में मैं अपने इन विचारों को प्रस्तुत करूँ। वहाँ हमने देखा कि एक-दो महानुभावों को छोड़कर प्राय: सभी वक्ताओं ने साम्प्रदायिकता के लिए भारत में बसने वाली बहुसंख्यक प्रजा को कोसा। अल्पसंख्यकों को वे इस विषय में दूध का धोया मान रहे थे। यही दृष्टि तो भारतीय कम्युनिस्टों की भी है। महात्मा गांधी के नाम से चलने वाली संस्था में कम्युनिज्म का यह प्रवेश अब आश्चर्यजनक नहीं रह गया है। पं० नेहरु और प्रियदर्शिनी इन्दिरा गांधी द्वारा संचालित कांग्रेस दल ने इसी ओर तो अपने डग परे हैं।

शब्द अपना अर्थ बदलते रहते हैं। संस्कृत कोषों में घृणा शब्द के दया, करुणा, कृपा जैसे पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, लेकिन आजकल इसका प्रयोग नफरत के अर्थ में होने लगा है। सम्प्रदाय शब्द का अर्थ बदल जाय, यह तो हो सकता है, किन्तु गलत जगह पर इसका प्रयोग होने लगे, इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता। आज दुनिया का सबसे सहिष्णु तबका साम्प्रदायिकता से नबाजा जाता है और पूरी दुनिया को आतंकवाद से भयभीत करने वाले असाम्प्रदायिक कहलाते हैं। अपने गलत विचारों के प्रति भी दुराग्रही, हठवादी और नबाबी मानसिकता से ग्रस्त व्यक्तियों से समाज बुरी तरह से त्रस्त है। नबाब पटौदी तो भला नबाब ही ठहरे, उनके छुटभैया लोग और इमाम, मुफ्ती जैसे पदों को सुशोभित करने वाले महानुभाव भी आज इस मानसिकता को छोड़ नहीं पाये हैं और हम हैं कि इनके मुँह से गंगा-जमुनी तहजीब की बात सुनकर गद्‌गद हो उठते हैं। हम इस तहजीब की कालिमा को देख नहीं पा रहे हैं। इसको गंगा की उज्ज्वलता देने में हम किंकर्तव्य-विमूढ़ हैं। संस्कृतियाँ कालुष्य के परिहार और उज्ज्वलता के आधान से परिपुष्ट होती हैं। क्या आजकल हम ऐसा करने में समर्थ हैं?

आज के समाचार साधन गांधी-नेहरु की जगह नेहरु-गांधी शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह पूरी तरह से भ्रामक है। हमें इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि महात्मा गांधी की मानसिकता जब सन्तों और गुरुओं की उदार परम्परा से और राष्ट्रवाद से जुड़ी हुई थी, तब पं० नेहरु भारतीयता का विरोध करने वाली अपसंस्कृतियों के अधिक नजदीक थे और इसीलिए व्यक्तिवाद से गहरे जुड़े हुए थे। इस प्रसंग में हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इस देश में हम हिन्दुत्व के नहीं, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आधार पर समग्र भारतीयता की स्थापना कर सकते हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का क्या स्वरूप हो सकता है, इस विषय पर हम 'उत्सर्जन' के उसी अंक (पृ० १-२) में अपना मन्तव्य बता चुके हैं और इसी नाम से हमारी एक पुस्तक भी अब प्रकाशित हो चुकी है।

हमारी समझ में नेहरु-गांधी शब्द से छुटकारा पा लेने पर ही यह देश अपनी और दुनिया की सुख-शान्ति में सहयोग कर सकेगा और नक्सलवाद, माओवाद एवं विश्वव्यापी आतंकवाद से छुटकारा पा सकेगा। हमारा निश्चित मत है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही एक विश्व और एक संस्कृति की स्थापना में और धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष के निवारण में अपनी सार्थक भूमिका भी निभा सकेगा। हिन्दु-मुस्लिम एकता की स्थापना में भी इसका महनीय उपयोग हो सकता है।



हिन्दु-मुस्लिम एकता

दि० १० मई, सन् २००५ के दैनिक जागरण में वरिष्ठ स्तंभकार श्री बलवीर पुंज का "हिन्दु-मुस्लिम एकता का छल" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें उन्होंने "हिन्दू-मुस्लिम एकता—क्या सच क्या झूठ" शीर्षक लघु पुस्तिका की समालोचना की है। यह पुस्तिका उन्हें किसी गांधीवादी सांसद ने दी थी। इसके आवरण पृष्ठ पर महात्मा गांधी की तस्वीर के नीचे "धर्मनिरपेक्ष और शान्तिमय भारत के लिए" पंक्ति प्रकाशित है। इसका लेखन और संकलन श्री भारत डोगरा ने किया है। पूर्व नौसेना अध्यक्ष एडमिरल विष्णु भागवत इसके प्रकाशक हैं। यहाँ प्रकाशक और लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर अपनी सुविधा के अनुसार टिप्पणियों का संकलन किया है।

इसकी समालोचना करते हुए श्री पुंज ने लिखा है कि पं० जवाहरलाल नेहरु ने हर कदम पर गांधीवाद से छल किया, किन्तु साथ ही उन्होंने 'गांधी ही भारत है' का छलाया भी स्थापित किया। इतना कहने के उपरान्त श्री पुंज भारतीय सन्त-परम्परा की एक मजबूत कड़ी महात्मा गांधी की समालोचना से अपने को रोक न सके। साथ ही अयोध्या, काशी और मथुरा के मन्दिरों की चर्चा के साथ ताजमहल के उल्लेख से भी वे अपने को विरत न रख सके। ताजमहल आज विश्व-धरोहर है। प्रत्येक भारतीय को उस पर गर्व होना चाहिए। इस पर भी काले बादल मंडराने लगे हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता ही नहीं, विश्व-मानवता की एकता के लिये भी यह आवश्यक है कि केवल तीन मन्दिर ही नहीं, पूरी दुनिया में एक समय किये गये धार्मिक अतिक्रमणों को पूरी ईमानदारी और भलमनसाहत के साथ हटा दिया जाय। धर्मों और संस्कृतियों का परस्पर संघर्ष तभी रुक सकता है। उपनिषत्काल से चली आ रही और महात्मा गांधी तक पहुँची भारतीय विचारों की उदार परम्परा को उजागर करने का "वज्रादपि कठोराणि" इस सुभाषित वाक्य में अभिव्यक्त दृढ़ संकल्प ही सर्वत्र सामंजस्य और एकता को स्थापित करने में समर्थ हो सकता है। "वादे वादे जायते तत्त्वबोध:" इस आदर्श वाक्य को हम प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता आन्दोलन की सफलता के साथ एक तरफ हिन्दू-मुस्लिम एकता को छिन्न-भिन्न करने की ब्रिटिश कुटिलनीति काम करने लगी और शिकागो के धर्म-संमेलन में स्वामी विवेकानन्द की ओजस्वी वाणी से निकली भारतीय आध्यात्मिकता ने विश्व-मानवता को सोचने का जो नया मार्ग दिखाया, वह ईसाई धर्मगुरुओं को रास नहीं आया और वे छल-कपट के रास्ते पर चल पड़े। यहीं से धर्मों और संस्कृतियों के नये संघर्ष की शुरुआत होती है। छल से धर्मान्तरण उसका सबसे विकृत रूप है। उक्त लघुपुस्तिका की श्री बलवीरपुंज ने जो समालोचना की है, उससे हम पूरी तरह सहमत हैं।

इस तरह की पुस्तकें महात्मा गांधी के विचारों का प्रतिनिधित्व न कर भारतीय समाज को पं० जवाहरलाल नेहरु के छलावे में उलझाने का प्रयत्न करती है। इस पूरी प्रक्रिया का विनियोग भारतीय संस्कृति के खिलाफ इस्लामिक कट्टरता को बढ़ावा देने तथा ईसाई मिशनरियों की छल-कपट भरी प्रवृत्तियों को उकसाने में होता है। गुजरात, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, मुम्बई, दिल्ली जैसी जगहों पर घटने वाली धर्मान्तरण की और आतंकवादियों की घटनाओं को झुठलाने का पूरा प्रयास किया जाता है और गोधरा कांड के बाद हुए गुजरात के दंगों को बढ़ा-चढ़ा कर दुनिया के सामने परोसा जाता है। कम्युनिस्ट विचारधारा से अनुप्राणित कुछ स्तंभलेखक बहुसंख्यकों की अपेक्षा अल्पसंख्यकों को और साम्यवादियों को भारत का सर्वोच्च सेक्युलरिस्ट होने का प्रमाणपत्र देते रहते हैं। भारतीय जनता को धोखे में रखने का यह एक भारी षड्यन्त्र है। इन सबके पीछे छिपे तौर पर कौन सूत्र-संचालन कर रहा है? इसकी खोज होनी चाहिए। क्या इस तरह की प्रवृत्तियाँ हिन्दु-मुस्लिम एकता की स्थापना में समर्थ हो सकती हैं?

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से अभी हाल में ''भारतीय समाज एवं संस्कृति'' शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ की हमारी विस्तृत समीक्षा ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' में प्रकाशित हो चुकी है (पृ० १०३-१२१)। यहाँ (पृ० १११-११२) प्रस्तुत विषय पर भी विविध विचार प्रस्तुत

किए गए हैं। हिन्दु-मुस्लिम एकता से संबद्ध एक विस्तृत लेख वहाँ (पृ० २७२-२८२) छपा है। हमारी समझ में इस लेख में और अन्यत्र भी दी गई सामग्री के आधार पर भारत की इस प्रमुख समस्या के समाधान का प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए। इसी लेख (पृ० २७९) में समस्या का समाधान न हो पाने के प्रमुख कारणों की चर्चा की गई है। हमारी समझ में मुस्लिम तुष्टीकरण के लिए किए गए विविध आरक्षणों की इसमें प्रमुख भूमिका है। धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष से देश को बचाने के लिए इन आरक्षणों की समाप्ति का और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की अवधि को यथाशीघ्र समाप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसके लिए न्यायालयों की सक्रिय भूमिका अपेक्षित है।

राजनीतिज्ञ इस तरह की समस्याओं के समाधान में असफल सिद्ध हो रहे हैं। बंगलादेशियों की अवैध प्रवेश की समस्या को ही हम लें। राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रद्रोह के इस कार्य को भी वोट-बैंक की राजनीति से जोड़ दिया है। अन्तरराष्ट्रीय सम्पत्ति ताजमहल पर भी अवैध अधिकार की राजनीति की जा रही है। हमें आशा और विश्वास है कि इस तरह की राष्ट्रद्रोह की घटनाओं पर अभी भारतीय न्यायालय रोक लगाने में समर्थ है। आज गलत पक्ष तो छल-कपट से न्यायालय को भी भरमाने में जुट जाता है और सही पक्ष अपने रक्षा में भी आलसी लग रहा है। यह प्रवृत्ति हमें कहाँ ले जायगी?

हिन्दु-मुस्लिम एकता की सबसे बड़ी बाधा यह प्रचार है कि भारत के अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों से भयभीत हैं। इनको भयमुक्त किया जाना चाहिए। इससे बड़ा झूट दुनिया में मिलना मुश्किल है। चन्द पारसी लोग बिना भय के सैकड़ों वर्षों से शान्तिपूर्वक यहाँ रह रहे हैं। उनके सामने कोई समस्या नहीं है। इस्लाम की समस्या यह है कि वह इस पूरे देश को इस्लाम में दीक्षित करना चाहता है। ''हँस कर लिया है पाकिस्तान, लड़ कर लेंगे हिन्दुस्तान'' यह नारा उनकी जेहन में बसा है। अपनी इसी दुराशा को पूरा करने के लिए जो छल-कपट किया जा रहा है, मुसलमानों के भयभीत होने का दुष्प्रचार भी उसीका एक अंग है।

महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तानी भाषा का समर्थन किया था। यह भी उनकी हिन्दू-मुस्लिम एकता का अंग था। देश के विभाजन के साथ अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई है, किन्तु सिनेमा आदि के माध्यम से इसको बढ़ावा देने का प्रयत्न किया जा रहा है। आकाशवाणी, दूरदर्शन ही नहीं, अखबारों के माध्यम से भी इस खिचड़ी भाषा को बढ़ावा देने का रात-दिन प्रयास चल रहा है। प्रदीप जैसे राष्ट्रवादी कवि की रचनाओं को यहाँ स्थान नहीं दिया जाता और खिचड़ी भाषा एवं खिचड़ी संस्कृति के प्रसार के लिए राष्ट्र का एक बड़ा तपका जी-जान से जुटा हुआ है। यह प्रवृत्ति आतंकवाद के प्रसार के साथ अपसंस्कृति की आग में घी डालने का काम कर रही है। इस विषय पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

हठवादिता आतंकवाद का ही एक लघु संस्करण है। पहले हम उसी पर विचार कर लेना चाहते हैं, क्योंकि इनके चलते हिन्दु-मुस्लिम एकता कभी सम्भव हो ही नहीं सकती।



हठवादिता

हमनें कहीं कुछ वर्ष पहले काशी के अलईपुरा स्टेशन पर घटी इस घटना की चर्चा की है कि कैसे एक अदना मुसलमान जनता और पुलिस के विरोध के बावजूद बकरे को मुसाफिर डिब्बे में घुसा कर अपने गन्तव्य स्थान तक ले गया। दूसरी घटना की भी कहीं चर्चा की गई है कि दिल्ली में चीनी-हिन्दी भाई-भाई का नारा लगाने वाले कैसे चीनी घुड़की के आगे नतमस्तक हो गये। वर्तमान चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश दिलाने वाले पं० नेहरु के साथ चीनी राजनीतिज्ञों ने किस तरह का धोखा किया, पंचशील के सिद्धान्तों की किस तरह छीछालेदर कर दी, इसका हम सबको कटु अनुभव है। ऐसा राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में भारत की स्थायी सदस्यता का विरोध करे और पाकिस्तान का साथ दे, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? चीन का भारत के प्रति व्यवहार इधर सदा विश्वासघात से भरा रहा है। यह चीन कभी भारत का शिष्य था।

अतिक्रमण स्थल पर बनाई गई इमारत को इस्लाम धर्म में कोई मान्यता नहीं दी गई है, किन्तु भारत में इस तरह की सैकड़ों इमारतों पर मुसलमान अपना कब्जा जमाये हुए हैं। हठवादिता की हद वहाँ पार हो जाती है, जब यह कहा जाता है कि इसमें क्या प्रमाण है कि यहाँ पहले मन्दिर था। गुजरात के सिद्धपुर में रुद्रमहालय अभी भी खड़ा है, लेकिन उसकी पश्चिम दिशा में दो कंगूरे खड़ा कर इसको भी मस्जिद घोषित कर दिया गया है। अयोध्या के बाबरी ढांचे को हटा लेने के शान्तिपूर्ण प्रयत्न हुए और न्यायालय से इसका शीघ्र समाधान प्रस्तुत करने की प्रार्थना की गई। इसराइल की सरकार ने कुछ इस्लामिक अतिवादियों को देश से निकाल देने का आदेश दिया था। वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय ने इसका समर्थन किया। इसके विपरीत भारतीय न्यायपालिका ने मौन साध लिया। सांस्कृतिक आन्दोलन से प्रेरित जनता हताश थी। ऐसी विषम परिस्थिति में जुटी भीड़ ने बाबरी ढाँचे को जमीजौंद कर दिया। पण्डित जवाहरलाल नेहरु ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के अवसर पर भीड़ द्वारा की गई इस तरह की घटनाओं को भीड़

की स्वाभाविक परिणति बताया था। इसके विपरीत बी० बी० सी० ने इस घटना को हिन्दु आतंकवाद की संज्ञा दी। इस सांस्कृतिक आन्दोलन में आहुति देने वालों के साथ यहाँ अपराधियों के जैसा ही व्यवहार किया जा रहा है। अभी हाल में लन्दन की संचार-व्यवस्था पर आतंकवादी हमले हुए। इसकी प्रतिक्रिया में वहाँ मुसलमानों और सिक्खों पर तथा इनके धर्मस्थलों पर आक्रमण किये गये। सिक्खों पर पहिचान के अभाव में आक्रमण हो सकते है, किन्तु आक्रमणकारी क्या मस्जिदों और गुरुद्वारों को भी नहीं पहचान सके। हिन्दुओं को आतंकी घोषित करने वाली और दुनिया भर में अपनी निष्पक्षता का ढिढौरा पीटने वाली बी० बी० सी० संस्था क्या इनको ब्रिटिश आतंकवादी और ईसाई आतंकवादी घोषित करने का साहस दिखा पावेगी।

अयोध्या की घटना के बाद मुम्बई में क्या हुआ? यह घटना बहुत पुरानी नहीं हुई है। इसके बाद दाऊद इब्राहीम देश छोड़कर चला गया। अभी अखबारों में प्रकाशित अभिनेता सलमान खान और ऐश्वर्या राय की टेप वार्ता को पढ़कर दाऊद इब्राहीम के भाग जाने के कुछ दिन पहले की वह घटना याद आ जाती है कि किस तरह अभिनेत्री दिव्या को होटल की इमारत से धक्का देकर मार डाला गया था। मुम्बई के सिने माफिया से त्रस्त प्रशासन ने क्या किया? सलमान खाँ काले हिरण का अवैध शिकार करने और स्वयं द्वारा चलाई गई गाड़ी से कुचलकर हुई मृत्यु का आरोपी है। अभी-अभी नबाब पटौदी के ऊपर भी इसी तरह के अवैध शिकार करने का आरोप लगा है। अवैध गतिविधियों के प्रसंग में शहाबुद्दीन, आजमखाँ जैसे अनेक नाम यहाँ जोड़े जा सकते हैं। इनकी गतिविधियाँ और बयान हमें ऐसा आभास दिलाते हैं कि भारत में अभी भी नबाबों का ही राज्य है। भारतीय प्रशासन इनसे भयभीत है और समझता है कि ये सब अपने-अपने अधिकार का सदुपयोग ही कर रहे है, कोई अपराध नहीं। हठवादिता का यह असर है। मुसलमानों की नबाबी मानसिकता और हिन्दुओं के दब्बूपन की इसमें सबसे बड़ी भूमिका है। इसके चलते हिन्दु-मुस्लिम एकता के प्रयत्न कभी सफल हो ही नहीं सकते।

दूसरी तरफ ''गर्व से कहो हम हिन्दु हैं'' का नारा लगाने वाले सभी हिन्दु संगठन यह भूल जाते हैं कि इस देश की अस्मिता और संस्कृति के शत्रुओं के द्वारा उनके ऊपर यह शब्द थोपा गया है। ये भी हठवादिता का ही सहारा लेते हैं। इस सम्बन्ध में हम बहुत-कुछ लिख चुके हैं। ये हिन्दुत्ववादी भारतीयता से बहुत दूर चले जा रहे हैं। संघ के कुछ कार्यकर्ता हमारे पास आये थे। उनसे हमने पूछा कि बाबरी ढाँचे के ढहाये जाने की तारीख तो आप लोगों को मालूम है, किन्तु क्या आप बता सकते हैं कि उस दिन भारतीय तिथि क्या थी ? चार-पाँच स्वयंसेवकों में से इसका उत्तर कोई भी नहीं दे सका। पं० मदनमोहन मालवीय और महात्मा गांधी जैसे महानुभावों की भी जन्मतिथि तारीख के हिसाब से मनाई जाती है, तिथि के नहीं। हमारा कितना धार्मिक और सांस्कृतिक पतन हो गया है ?

छत्रपति शिवाजी की जन्मतिथि किस तारीख पर पड़ती है, इसको जानने के लिए भारतीयता से निकटता प्रकट करने वाली महाराष्ट्र सरकार ने एक कमेटी बनाई और अब उसी तारीख को शिवाजी की जयन्ती मनाई जाती है। महाराष्ट्र सरकार परेशान है कि वहाँ की देहाती जनता क्यों तिथि के हिसाब से अब भी जयन्ती मनाती है। अपसंस्कृति का यह प्रवाह धीरे-धीरे भारत की प्रबुद्ध नारियों और देहाती जनता की ओर भी बढ़ रहा है, इससे वे सन्तुष्ट भी हैं। भारतीय पत्रकार भी तिथियों का आधार हिन्दू पंचांग बताकर अपने कर्तव्य का अच्छा पालन कर रहे हैं! इसीका यह प्रभाव है कि 'कल्याण' जैसी धार्मिक पत्रिका जाने-अनजाने मृत्यु तिथि के स्थान पर भी तारीख को बढ़ावा देने में लगी है। हम अधिक नहीं लिखना चाहते, किन्तु इतना अवश्य पूछना चाहते हैं कि क्या ये संगठन भारतीय धर्म और संस्कृति के संरक्षण में समर्थ हो सकेंगे ?

भारतीय शास्त्रों में तीन एषणाओं की चर्चा है—पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। पुत्रैषणा को हम काम का प्रतिनिधि मानते हैं। ''नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'' इस उपनिषद् वचन में वित्तैषणा की ही चर्चा है। अर्थ और काम से ऊपर उठकर भी व्यक्ति लोकैषणा के जाल में फँस जाता है और नाना प्रकार के अर्थ-अनर्थ करता रहता है। यहाँ तीन आधुनिक राजनीतिक उदाहरण हम प्रस्तुत करेंगे—

आधुनिक भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरु अशोक-महान् बनने जा रहे थे, किन्तु उनकी यह दुरभिलाषा बोमदिला की ऊँचाई से गिर कर चकनाचूर हो गई। अहंकार के वशीभूत होकर उन्होंने क्या-क्या किया, इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं।

भारतीय जनतापार्टी के वर्चस्व काल में बने प्रधानमन्त्री श्री अटल-बिहारी वाजपेयी ने अपने ऊपर अत्यधिक आत्मविश्वास के कारण अपने साथ भारतीय जनतापार्टी की भी छीछालेदर करवा ली और दुनिया की वाहवाही लूटने के लिए भगवान् राम को भूल कर धर्मनिरपेक्ष बनने की व्यग्रता में संयुक्त राष्ट्रसंघ में राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा से बनी अपनी सांस्कृतिक छवि को भी बिगाड़ लिया।

तीसरा ताजा उदाहरण श्री आडवाणी का है। यों तो भारत में भूतपूर्व और भविष्य में प्रधानमन्त्री बनने वालों की लम्बी कतार है, किन्तु इन सबको लाँघ कर सबसे पहले प्रधानमन्त्री पद का दावा पेश करने के लिए इन्होंने पाकिस्तान के जनक जिन्ना की स्तुति कर दी और अपनी बात पर ही अड़े हैं। यह भी हठवादिता का ही एक प्रकार है। रावण-कंस जैसे अहंकारियों को भारत ने देखा है। इनका क्या हश्र होता है, इसे अभी देखना है।

श्री आडवाणी के जिन्ना सम्बन्धी वक्तव्य से बचाव के लिए श्री वाजपेयी ने भारत विभाजन के पूर्व की तथा पाकिस्तान की स्थापना के बाद की मन:स्थिति को आधार बनाया है। हम पूछना चाहते हैं कि जिन्ना की पहली मन:स्थिति के कारण देश-विभाजन के साथ लाखों लोगों की जाने चली गईं। बाद की मन:स्थिति ने ऐसा क्या अनोखा काम किया कि श्री आडवाणी जी के बचाव में लग कर वे अपना अवमूल्यन करा बैठे। इधर श्री खुराना के बचाव में वक्तव्य देकर श्री वाजपेयी जी ने अच्छा काम किया है। श्री आडवाणी और श्री वाजपेयी को यह समझ लेना चाहिए कि भारतीय जनता को वेबकूफ समझने का उनको कोई अधिकार नहीं है। भारतीय संस्कृति में व्यक्तिवाद की अपेक्षा समाज-हित को ऊँचा स्थान दिया गया है। श्री खुराना को अपने बड़बोलेपन का, उद्दण्डता का दण्ड मिलना ही चाहिए और श्री आडवाणी को अपने अहंकार भरे अनर्गल आलाप का भी। श्री

आडवाणी का अहंकार भारतीय जनतापार्टी का ही नहीं, कभी इस देश का भी अहित कर सकता है। श्री वाजपेयी जी भारतीय समाज को इतना बेवकूफ न समझें कि वह उनके वक्तव्यों की उनके मनमाफिक व्याख्या मानता रहेगा। जनतन्त्र के लिए यह उचित भी नहीं है। पं० नेहरु अपनी ऐसी ही मनोवृत्ति के कारण इस देश का बहुत-कुछ अहित कर चुके हैं।

स्वतन्त्र भारत में एकमात्र श्री लालबहादुर शास्त्री ही ऐसे प्रधानमन्त्री हुए जिन्होंने देश के लिए ''जय जवान, जय किसान'' के रूप में उपयोगी नारे दिए और लोकैषणा में फँसने के बजाय अपने प्राणों की आहुति दे दी। श्री लालबहादुर शास्त्री और श्री दीनदयाल उपाध्याय जी की हत्या भारत के लिए ये दो शोचनीय घटनाएँ थीं। हमारी समझ में इनका एक ही स्रोत लगता है। कश्मीर में डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी की अपमृत्यु और वहाँ से अल्पसंख्यकों का निष्कासन भी इसी तरह की घटनाएँ थीं। हिन्दुओं की स्वाभाविक कायरता इस विषय में कुछ कर न सकी।

हमारा भारतीय जनतापार्टी तथा अन्य हिन्दुत्ववादी संगठनों से यह निवेदन है कि हिन्दुत्व इस देश की रक्षा नहीं कर सकता। इसके लिए तो पूरी भारतीय प्रजा में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को पनपाने की आवश्यकता है। तभी हम कोरी हठवादिता से ऊपर उठ सकेंगे और तभी इस देश में धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष को रोक पाने में भी समर्थ हो सकेंगे। हिन्दुत्ववादी संगठनों की कोरी हठवादिता से यह कार्य नहीं हो सकेगा। हमें यह समझ लेना चाहिए कि हठवादिता ही आतंकवाद को जन्म देती है। देश में इसीके कारण 'लैण्डों' और 'स्तानों' के रूप में विभाजन की प्रक्रिया जोर पकड़ रही है। नक्सलवादी और माओवादी मानसिकता भी हठवादिता की ही फसल है। इन सबकी परिणति अन्ततः आतंकवाद के रूप में ही होती है। देश में राजनीतिक दलों की जो भरमार है, उसके पीछे भी तो हठवादिता का ही हाथ है। इन सबसे इस देश को बचाने के लिए तो हमें अपसंस्कृतियों के प्रसारकों व प्रचारकों पर नियन्त्रण स्थापित करना होगा।



अपसंस्कृतियों के प्रचारक व प्रसारक

इनमें एक वर्ग सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन और समाचारपत्रों का है और दूसरा प्रशासक, राजनीतिज्ञ, पत्रकार और बुद्धिजीवियों का। प्रशासकों की गणना इनमें नहीं होनी चाहिए थी, किन्तु भारत में इनकी स्थिति लोक-सेवकों की नहीं, इन सब पर नियन्त्रण स्थापित करने वाली सरकारी मशीनरी की हो गई है। आजकल के राजनीतिज्ञ इन्हीं से संचालित होते हैं और इसी कारण सिनेमा, रेडियो और दूरदर्शन पर ये पूरी तरह से हावी हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना में इन साधनों का महनीय योगदान हो सकता है, किन्तु सुषमा स्वराज जैसी दबंग सूचनामन्त्री के कार्यकाल में भी ऐसा न हो सका। भारत का वर्तमान प्रधानमन्त्री कश्मीर में तो अपनी भाषा बोलता है, पर अन्यत्र नहीं। वह दिल्ली में ऐसा क्यों नहीं करते?

सिनेमा जगत् का संचालन पहले काले धन से होता था, अब राष्ट्रद्रोही दाऊद के गुर्गों का छिपा हाथ उस पर हावी है। राष्ट्रभाषा हिन्दी का अपमान करने में आज सर्वोपरि स्थान सिनेमा का है। रेडियो, दूरदर्शन और समाचार-पत्र भी धीरे-धीरे उसी ओर बढ़ रहे हैं। हिन्दी की राष्ट्रभाषा के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा न होना, इसका सबसे बड़ा कारण है। राष्ट्रभाषा के खिलाफ वे सभी हस्तियाँ एकमत हो गई हैं, जो भारत में अपसंस्कृतियों के प्रसार में लगी हुई हैं। सिनेमा के पात्रों का परस्पर का संवाद हो या संगीत, सर्वत्र खिचड़ी भाषा का प्रयोग होने लगा है। गंगा-जमुनी खिचड़ी संस्कृति और हिन्दुस्तानी भाषा की अविभाजित भारत में तो चर्चा अच्छी लगती थी, किन्तु अब उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। हिन्दु-मुस्लिम एकता के लिए महात्मा गांधी ने अनेक प्रयोग किये थे, किन्तु किसी न किसी कारण से उनमें से एक भी सफल न हो सका। अब सिनेमा के माध्यम से इनको खुराक देते रहने से अन्ततः आतंकवाद का ही परिपोषण होगा। ''सत्यमेव जयते'' हमारा आदर्श वाक्य है। भारतीय साहित्य सत्य की विजय का ही उद्घोषक है, किन्तु सिनेमा की उलटी करतूत असत्य की विजय की मानसिकता की ओर ही अधिकांश भारती प्रजा को ले जा रही है। कच्ची उम्र के बालकों और

अबोध जनता को यह विपथगामी बना रही है। हिन्दु-मुस्लिम एकता भारत की आज मुख्य समस्या है। इस समस्या को भी उलझाने का ही काम सिनेमा जगत् कर रहा है, क्योंकि उसका संचालन ऐसे ही हाथों में है।

आकाशवाणी और दूरदर्शन की समस्या भी इससे बहुत भिन्न नहीं है। अन्तर इतना है कि इनका संचालन भारतीयता से बहुत दूर चले गए प्रशासकों और राजनेताओं के हाथों में है। इनमें से अधिकांश समग्र भारतीयता से अपरिचित हैं और निजी स्वार्थ हो या दलगत स्वार्थ, देश की दुर्दशा कर देने में इनको कोई संकोच नहीं है। ये लोग जाने-अनजाने में अपसंस्कृतियों को ही बढ़ावा देते हैं। इस देश को धर्म-निरपेक्ष घोषित कर दिया गया है। भारतीय मान्यता है कि धर्म ही अर्थ और काम को नियन्त्रित करता है। आज इसके अभाव मे पूरी प्रजा धीरे-धीरे अर्थ और काम की उच्छृंखलता की शिकार होती जा रही है, भारत का प्रत्येक प्रबुद्ध क्षेत्र इनका शिकार होता जा रहा है। आज अखबारों का हर एक पेज, विशेष लेख और संपादकीय टिप्पणियाँ इनसे भरी मिलेंगी। यह बताया जा रहा है कि लोकसभा और विधानसभाओं के सदस्यों में अपराधियों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गई है। इतना ही नहीं, इनमें से कई मन्त्रिमण्डल में भी शामिल कर लिए गये हैं और वे पूरी सरकार पर हावी हैं। भारतीय राजनीति कितनी शोचनीय स्थिति में पहुँच गई है!

एक तरफ असामाजिक तत्त्व इन संमानजनक पदों पर पहुँच रहे हैं और दूसरी तरफ परम आदरणीय शंकराचार्य जैसी संस्था व्यक्तिगत द्वेष का शिकार बन रही है। कांची पीठ आद्य शंकराचार्य का मूल स्थान है। अन्य चार पीठों पर उन्होंने अपने चार शिष्यों को बैठाया। कांची पीठ इन सबके लिए आदरणीय है, किन्तु ये इसको संमान नहीं देते और यहाँ तक कहते हैं कि शांकर पीठ चार ही हैं। अब तो दो पीठों पर एक ही महानुभाव विराजमान हैं और इनकी आपस की लड़ाई न्यायालय में पहुँची हुई है। जिस संस्था में आपस में ही संमान का भाव नहीं है, उसके संमान की रक्षा दूसरा कौन कर सकता है? दूसरी तरफ जिस धर्मगुरु को चीन ने अपने यहाँ आने की अनुमति नहीं दी, उसकी भारत का प्रधानमन्त्री चरण-वन्दना करता है।

हम सोच सकते हैं कि हमारे यहाँ के प्रशासक और राजनीतिज्ञ ही नहीं, धार्मिक नेता भी कहाँ पहुँच गए हैं। क्या हम इक्कीसवीं शताब्दी में पूरी भारतीय प्रजा को धर्मान्तरण के जाल में फँसने देंगे?

जनतन्त्र का संचालन प्रत्येक देश में दो या तीन खेमों में बँटे राजनीतिक दल करते हैं। भारत में इनकी क्या स्थिति है? व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा को इन दलों की बाढ़ का कारण माना जा सकता है। दलों की परस्पर की हार-जीत को जनतन्त्र में खेलभावना से लिया जाता है, किन्तु भारत में ये शत्रुभाव को बढ़ाने वाले बन गये हैं। दलभावना इतनी प्रबल हो गई है कि अपने दल के आगे ये देश को भी ऊँचा स्थान नहीं देना चाहते। प्रच्छन्न धार्मिक आतंकवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भगवाकरण के नाम पर समस्त भारतीयता को नकार देना चाहता है। साम्प्रदायिकता के नाम पर उनके साथ अछूत का-सा व्यवहार किया जाता है। क्या ये धर्मनिरपेक्षतावादी जनतन्त्र के मूल सिद्धान्तों का अनुसरण कर रहे हैं? यह देश परस्परविरोधी दो खेमों में बँट गया है। एक दूसरे को बर्बाद करना इनका मुख्य लक्ष्य बन गया है और इसीके साथ देशहित को तिलांजलि देने का उपक्रम भी हो रहा है। क्या इससे जनतन्त्र की रक्षा हो सकेगी?

पत्रकार को देश की रक्षा का चतुर्थ स्तंभ माना जाता है। आज इस देश में उसकी क्या स्थिति है? ऊपर जिन परस्परविरोधी दलों की चर्चा की गई है, उन सबके अपने-अपने प्रचार-साधन हैं और उन सबका संचालन हमारे ये पत्रकार बन्धु ही करते हैं। इनकी बात जाने भी दी जाय, तो भी दलवाद से मुक्त विभिन्न पत्रों के स्तंभकार के रूप में प्रतिष्ठित पत्रकारों की भी दलगत प्रतिबद्धता क्या उनको राष्ट्र के चतुर्थ स्तंभ के रूप में प्रतिष्ठित कर सकती है? ये सब तो अर्थ के क्रीत दास ही माने जा सकते हैं। विदेशों में जो स्वतन्त्र पत्रकारिता विकसित हुई है, उसके कुछ उदाहरण भारत में भी अवश्य देखने को मिलते हैं। उनको हम अपवाद स्वरूप ही मानेंगे। बलिदान की भावना की भारत में कमी नहीं थी, किन्तु अपसंस्कृतियों से आक्रान्त यह देश अपनी इस विशेषता को खोता जा रहा है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही अब इसकी रक्षा कर सकता है।

आज भारत में पत्रकारों की जैसी ही स्थिति बुद्धिजीवियों की भी है। अनेक बुद्धिजीवियों को बिकाऊ बनने से कोई एतराज नहीं है। भारतीय बुद्धिजीवियों में एक अन्य दुर्गुण ने प्रवेश पा लिया है कि वे पाश्चात्य बुद्धिजीवियों के आगे हीन-भावना से ग्रस्त हो गये हैं। इतना ही नहीं, राजनीतिज्ञों के समान ही ये बुद्धिजीवी भी भारतीयता का विरोध करने वाले साम्यवादी लेखकों की अग्रिम पंक्ति में अपनी गणना कराने लगे हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के लेखकों की बात हम लें। पहले इनमें भारतीयता के समर्थक लेखकों का संमानजनक स्थान था। अब उनके स्थान पर जनवादी ! लेखकों ने प्रतिष्ठा पा ली है और ये धर्मनिरपेक्षता के नाम पर अभारतीयता के पोषक तत्त्वों से सांठगांठ कर पूरे भारतीय साहित्य को बुर्जुआ मनोवृत्ति की उपज बताकर उसको तिलांजलि दे देने का घनघोर प्रचार कर रहे हैं। 'भगवाकरण' शब्द ऐसे ही बुद्धिजीवियों की उपज है। महाकवि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में अर्थपण्य (दास) लेखन की कहीं चर्चा की है।

वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठे राजनीतिज्ञ, पत्रकार और बुद्धिजीवी ही आज सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन और समाचार पत्रों के द्वारा फैलाये जा रहे प्रदूषण से देश को मुक्त कर सकते हैं और सेवक के स्थान पर शासक बने तबके को भी सही मार्ग दिखा सकते हैं। भारत में अपसंस्कृतियों के इन प्रचारकों और प्रसारकों पर नियन्त्रण स्थापित करके ही हम देश की इस प्रदूषण से रक्षा कर सकते हैं।

ब्राह्मण और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध तो आज पूरा समाज सजग हो उठा है, किन्तु दुनिया के शाश्वत आध्यात्मिक औपनिषद उपदेशों से जुड़ा राजन्य-वर्ग हीनभावना से ग्रस्त होकर आज कितना अभारतीय हो गया है, उनका नाम लेकर हम अपनी लेखनी को दूषित नहीं करना चाहते। क्या वे तन्त्रागमशास्त्र की सामाजिक दृष्टि का सहारा लेकर ह्रासोन्मुख भारतीय संस्कृति को बचाने का प्रयास कर सकते हैं?

इसी प्रसंग में हम भारत की पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के प्रसंग को भी उठाना चाहते हैं। भारतीयता की रक्षा के लिए स्थापित सिक्ख धर्म के सदस्यों ने क्या किया? और उसकी प्रतिक्रिया में जो

कुछ हुआ, वह भारतीय संस्कृति को कलंकित करने के लिए पर्याप्त था। अपसंस्कृति का इस तरह का उदाहरण बहुत खोजने पर ही मिलेगा। यहाँ रक्षक ही भक्षक बन गया है। बाड़ ही खेत को चर गई है। सिद्धों, नाथों और सन्तों की परम्परा में प्रसूत दस सिक्ख गुरुओं की परम्परा में यह दोष कहाँ से आ गया? सबके कल्याण के लिए, भारत राष्ट्र की रक्षा के लिए, समतावादी गुरुओं ने जिस शिष्य परम्परा को स्थापित किया, वह आगे चलकर विपथगामी हो जाएगी, इसकी कौन कल्पना कर सकता था? भारत विभाजन के समय इस शिष्य-परम्परा को जिस समूह ने सर्वाधिक हानि पहुँचाई, उसी के रास्ते को चुन कर वह किसका हित साधने वाली थी? यह राष्ट्र का सौभाग्य है कि समय रहते गुरु-पन्थ जाग उठा और राष्ट्र की अधिक हानि होने से बच गई।

इतने पर भी धर्मों और संस्कृतियों का यह संघर्ष रुका नहीं है। कश्मीर में धर्म की पृष्ठभूमि में तथा उत्तर-पूर्वी भारत और दक्षिण भारत के कुछ भागों में धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में यह संघर्ष चालू है। अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर हमें इनमें पुनः सामंजस्य स्थापित करना होगा। जैन और बौद्ध धर्म में समन्वय स्थापित करने की जिस विधि को चुना गया था, उसे हमने भुला दिया है। उसे पुनः जगाना होगा। तभी न केवल सिक्ख धर्म से, इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म से भी राष्ट्रीयता के विरोधी तत्त्वों को स्थगित किया जा सकता है।

आर्य-द्रविड़ विवाद की जन्मस्थली हड़प्पा संस्कृति से तमिलनाडु की अपेक्षा कर्णाटक अधिक नजदीक है। लिंग-पूजा और शव के भूनिक्षेप के रूप में इसे देखा जा सकता है। तमिलनाडु में द्रविड़ संस्कृति का कोई ठोस आधार हम खोज नहीं सकते। अपसंस्कृतियों के माध्यम से फैलाये गए धर्मों और संस्कृतियों के इस संघर्ष को रोका जाना चाहिए। हिन्दुवादी संगठन इसमें अपना सक्रिय सहयोग देकर राष्ट्र की रक्षा में मजबूत बाड़ की भूमिका निभा सकते हैं। तन्त्रागमशास्त्र की सामाजिक दृष्टि उनकी इस शुभ कार्य में सहायता कर सकती है।



तन्त्रागमशास्त्र की सामाजिक दृष्टि

इस विषय पर हमने ''आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि'' शीर्षक निबन्ध (सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, पृ० ७८-८८) में विस्तार से विचार किया है। अनेक मिथ्या आरोपों के आधार पर भारतीय संस्कृति को बदनाम किया जा रहा है। वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था में संशोधन के रूप में विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित भारतीय साहित्य में पर्याप्त सामग्री मिलती है। उसका चूडान्त उत्कर्ष हमें दसवीं शताब्दी के अन्त और ११वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में विद्यमान कश्मीर के महान् आचार्य अभिनवगुप्त की रचनाओं में मिलता है। महाभारत, आगम, पुराण और तन्त्रशास्त्र के प्रमाणों से इस आचार्य ने सामाजिक और सांस्कृतिक विचारों में हुए क्रान्तिकारी परिवर्तनों की सूचना दी है। इनके ग्रन्थ तन्त्रालोक और परात्रीशिकाविवृति में, जयरथ के तन्त्रालोकविवेक में और महेश्वरानन्द (गोरक्षो लोकधिया) के ग्रन्थ महार्थमंजरीपरिमल जैसे ग्रन्थों में समतादृष्टि के विकास पर भी पर्याप्त सामग्री जुटाई गई है। ऐसा करते समय इन ग्रन्थों में जातिग्रह, शंका, शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध की व्यवस्था में आवश्यक संशोधन प्रस्तुत करने के लिए सत्तर्क और स्वानुभव को शास्त्रों के और गुरुओं के उपदेशों से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। योगवासिष्ठ और विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों में वे सब तत्त्व विद्यमान हैं, जिन्हें भारतीय समाज की समरसता के लिए पूरे भारत के सन्तों ने विभिन्न भाषाओं के माध्यम से प्रस्तुत किए। सिक्ख धर्म की प्रतिष्ठा में और बंगाल-आसाम में स्वीकृत वैष्णव दृष्टि के विकास में इनके दिए अवदान को हम भुला चुके हैं। इसीके कारण हिन्दुत्व पराभवोन्मुख है, इसको जितना जल्दी हम समझ सकेंगे, इस देश के हित में होगा, आतंकवाद और धर्मान्तरण जैसी समस्याओं का सामना करने में हम समर्थ हो सकेंगे। भारत के हिन्दुत्ववादी सभी संघटनों को समय रहते यह समझ में आ जाना चाहिए कि 'हिन्दुत्व' इस देश की रक्षा नहीं कर सकेगा। इसके लिए तो पूरी भारतीय प्रजा में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

जातिवाद से इस देश की प्रजा पूरी तरह से जकड़ी हुई है और आज की भ्रष्ट राजनीति तुष्टीकरण और नाना प्रकार के आरक्षणों के जरिये इसको बढ़ावा ही दे रही है। तुर्रा यह है कि कहा जाता है कि यह सब जातिवाद को समाप्त करने के लिए किया जा रहा है, किन्तु इससे जातिवाद समाप्त नहीं होगा। हमारी समझ में इसके साथ जुड़े हुए ज्येष्ठ-कनिष्ठ भाव को, छोटे-बड़े की भावना को, ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है और चाण्डाल सबसे निकृष्ट, इस मान्यता को समाज से मिटा देना ही इस समस्या का एकमात्र समाधान है। आधुनिक व्यवस्था तो इसको और जटिल बनाने में लगी है। हमारे कम्युनिस्ट भाई आपस में झगड़ा लगाने की तलाश में ही सदा रहते हैं। अनेक स्थानों पर उद्धृत मकुटसंहिता जैसे आगम-ग्रन्थों ने ही इसका सही समाधान प्रस्तुत किया है। यहाँ ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को अध्यात्म में प्रवेश का अधिकारी माना गया है। प्रो० मुकुटबिहारीलाल ने ''साम्ययोगमीमांसा'' में प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य के आधार पर भगवद्गीता के साम्ययोग को परिपुष्ट किया है और ''एक विश्व : एक संस्कृति'' के विश्वसंस्कृति प्रकरण में 'समता दृष्टि' की व्याख्या करते हुए हमने अनेक आगम-ग्रन्थों को उद्धृत किया है। वास्तविक समानता इन्हीं उपदेशों के आधार पर संभव हो सकती है।

ग्रहाष्टक अथवा पाशाष्टक की भी आगमों में चर्चा मिलती है। इनके सर्वथा परित्याग की चर्चा वहाँ की गई है। आज घृणा, शंका आदि पाशों से पूरी मानवता आक्रान्त है। पूर्व काल में भारत का इसका कुफल भुगतना पड़ा है कि गांवों के गांव धर्मपरिवर्तन के शिकार हो गये थे। समृद्ध देश अविकसित देशों को जो हीन दृष्टि से देखते हैं, उसमें पाशाष्टक में वर्णित हीन मनोभावनाओं को स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप में भी इनका परित्याग परम आवश्यक है।

शुद्धि और अशुद्धि, विधि और निषेध जैसी व्यवस्थाओं से भी समस्त धार्मिक सम्प्रदाय जकड़े हुए हैं। धार्मिक आतंकवाद आज पूरी दुनिया को आतंकित करने में समर्थ है। इसके निवारण के लिए यह आवश्यक है पूरी दुनिया के समझदार व्यक्ति महार्थमंजरीपरिमल जैसे ग्रन्थों की पद्धति से

शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध जैसी धार्मिक व्यवस्थाओं को मीमांसित करें। यह कार्य कठिन है, किन्तु विश्व को कभी न कभी यह कार्य करना ही होगा। इसके अभाव में धर्मों में परस्पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण का विकास नहीं होने पावेगा। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में परस्परविरोधी विचारों में समन्वय स्थापित करने की प्रक्रिया को ही सर्वोच्च स्थान दिया गया है। परस्परविरोधी धर्मों में सहिष्णुता की प्रतिष्ठा होने पर ही यह कार्य संभव हो सकता है। तभी मानव-समाज धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष से ऊपर उठ सकता है, धर्म और संस्कृति के अन्तर को पहिचान कर ही यह कार्य किया जा सकता है।



धर्म और संस्कृति का अन्तर

"भारतीय समाज एवं संस्कृति" नामक ग्रन्थ विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी से सन् २००३ में छपा है। इससें ४२ विद्वानों के धर्म और संस्कृति सम्बन्धी विचार प्रस्तुत हुए हैं। यहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव ने बताया है कि "हमारे देश में दुर्भाग्य से लोग संस्कृति से धर्म को अलग नहीं करते" (पृ० ३३६)। धर्म और संस्कृति के इस सूक्ष्म अन्तर को हमने "निगमागम संस्कृति" (पृ० २५०-२५६) और "एक विश्व : एक संस्कृति" (पृ० ७७-८४) में प्रकाशित निबन्ध में स्पष्ट किया है। उदार नैतिकता और संकीर्ण मजहब के रूप में हम इनकी पहिचान कर सकते हैं। मनुस्मृति (६.९२) में धृति (धैर्य), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म के अंग गिनाये गये हैं। नैतिकता का, आध्यात्मिकता का निर्माण इन्हीं गुणों के कारण होता है। विभिन्न धर्मों में नाना प्रकार के, कभी-कभी परस्पर-विरोधी कर्मकाण्डों का भी विधान मिलता है। इनको आजकल मजहब के नाम से जाना जाता है। बहुलतावाद के नाम पर आजकल इन्हीं को जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। कर्मकाण्ड पर आधारित बहुलतावाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर विग्रह और विघटन को ही प्रोत्साहन देगा, एकात्मक दृष्टि को नहीं। कम्युनिस्ट मनोवृत्ति के श्री नैयर का बहुलतावाद अन्ततः आतंकवाद और धर्मपरिवर्तन जैसी प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहित करता है।

प्रसिद्ध गांधीवादी चिन्तक काका कालेलकर ने "समन्वय संस्कृति की ओर" शीर्षक ग्रन्थ में दुनिया के प्रधान धर्मों की संख्या छः बताई है और इनका आत्मतुष्ट और स्पर्धालु के रूप में विभाजन किया है। आत्मतुष्ट धर्मों से दुनिया को कोई खतरा नहीं है। स्पर्धालु धर्मों में इन्होंने बौद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्मों का समावेश किया है। धर्मान्तरण, धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्द इन स्पर्धालु धर्मों के कारण ही प्रयोग में आये हैं। इस्लाम के साथ अब आतंकवाद भी जुड़ गया है और कम्युनिस्टों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी नक्सलवाद के रूप में आतंकवाद को ही पुष्ट करता है। हमें इस आतंकवाद

के साथ धर्मपरिवर्तन की प्रवृत्ति से और इनके द्वारा गढ़े गये प्रगतिशील, प्रतिगामी, भगवाकरण जैसे शब्दों के प्रयोग से पूरे विश्व को सावधान करना होगा। ''एक विश्व : एक संस्कृति'' जैसे ग्रन्थों में हमनें धर्म और संस्कृति के साथ इन सब शब्दों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। सभी धर्मों को आत्मतुष्ट बनाने का प्रयत्न होना चाहिए और जब तक ऐसा नहीं हो जाता, तब तक हमें सर्वधर्म-समभाव के स्थान पर सर्वधर्म-समादर शब्द को वरीयता देनी चाहिए।

धर्म और संस्कृति के सूक्ष्म अन्तर की इस पृष्ठभूमि के आधार पर ही हमने अयोध्या के बाबरी ढाँचे के विध्वंस को सांस्कृतिक पुनर्जागरण के रूप में प्रस्तुत किया है। धर्म से इसका कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। मध्यकालीन बर्बर आक्रान्ताओं ने भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में धर्मस्थलों को उजाड़ने और उनका रूप-परिवर्तन करने का दु:साहस किया था। वर्तमान आतंकवाद उसी की एक कड़ी है। इस धार्मिक आतंकवाद की सर्वक्षार नीति के कारण दुनिया में अमनचैन को खतरा पैदा हो गया है। राम-जन्मभूमि स्थल का अतिक्रमण केवल धर्म पर नहीं, पूरी भारतीय संस्कृति पर हमला है। सांस्कृतिक आधार पर ही इनका समाधान यह होना चाहिए कि जहाँ-कहीं भी इन तरह की विकृतियाँ आई हैं, उन्हें पूरी समझदारी के साथ मिटा दिया जाय।

''भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप'' (पृ० ८३-८७) में इसके लिए हमने कुछ सुझाव दिये हैं। अपसंस्कृति के प्रवाह में तेजी से बह रहे भारत में कोई आयोग इस समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसका समाधान तो भावात्मक एकता के परिपुष्ट आधार पर विकसित मानवीय नैतिकता और उदारता ही कर सकती है। यह कार्य धर्म नहीं, संस्कृति के आधार पर ही संभव है। राजनीतिक दृष्टि से एक विश्व की कल्पना कभी सफल नहीं हो सकती, धार्मिक दृष्टि तो आतंकवाद का सामना करने में भी पूरी तरह से असफल हो चुकी है। अयोध्या के शोचनीय दशा में पड़े राम-मन्दिर के ऊपर अथवा लंदन की यातायात व्यवस्था पर किये गये नये आतंकी आक्रमण को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। विश्व

की प्रबुद्ध मानवता से हम निवेदन करना चाहते हैं कि क्या विश्व-साहित्य के इतिहास में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जैसा कोई चरित्र वे प्रस्तुत कर सकती है? मानव चरित्र की इस उदारतम भूमि तक पहुँचा हुआ व्यक्ति-समूह ही इस तरह की समस्याओं के समाधान में समर्थ हो सकेगा। क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ या उसकी सुरक्षा परिषद् का गठन इन मानवीय मूल्यों के आधार पर हुआ है?

वैदिक साहित्य में संगीत, नृत्य आदि का अन्तर्भाव संस्कृति में किया गया है। परवर्ती काल में कलाओं में इनका समावेश माना गया। आजकल विदेशों में भेजे जाने वाले सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डलों में इन्हींका समावेश किया जाता है और मुख्य नैतिकताप्रधान संस्कृति को राजनीतिज्ञों के भरोसे छोड़ दिया गया है। उनकी पसंद सिनेमा जगत् से आगे नहीं बढ़ पाती। शबाना आजमी जैसी अभिनेत्री और मकबूल फिदा हुसैन जैसे विकृत मानसिकता के चित्रकारों की गिनती भी इन्हीं भारतीय संस्कृति के ध्वजवाहकों में की जाती है। इन्हींके कारण भारतीय संस्कृति पर अपसंस्कृतियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। हालत यहाँ तक पहुँच चुकी है कि संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति जैसे विद्वान् भी संस्कृति और सभ्यता शब्दों को कल्चर और सिविलाइजेशन शब्दों का आधुनिक अनुवाद भर मानते हैं।

हमने अनेक स्थलों पर इसका प्रतिवाद किया है। प्रथमतः हमने संस्कार शब्द को संस्कृति का प्रतिनिधि माना था। बंगाल में इसके लिए कृष्टि शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के स्वामी करपात्रीजी महाराज के द्वारा रचित वेदार्थपारिजात भाष्य का भाषानुवाद करते समय "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा" (७.१४) यह मन्त्र हमें देखने को मिला। इसी संहिता में "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (३२.८) यह मन्त्र भी मिलता है, जिसको कवीन्द्र रवीन्द्र ने विश्वभारती का आदर्श वाक्य बनाया। इसी प्रसंग में हमने यह भी बताया है कि 'हिन्दु' शब्द धर्मनिरपेक्षता के समान ही भारतीय संस्कृति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। हिन्दु शब्द

हमारे ऊपर थोपा गया है, किन्तु आजकल हम "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" का नारा लगाने लगे हैं। इस विषय में हम बहुत कुछ लिख चुके है।

वैदिक साहित्य और भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में अन्यत्र भी संस्कृति और संस्कार शब्द प्रयुक्त हैं, इसकी चर्चा भी हम अपने ग्रन्थ "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" (पृ० १०१) में कर चुके हैं। वहाँ बताया गया है कि ऐतरेय ब्राह्मण में "आत्मसंस्कृतिरेव शिल्पानि" (६.२७) कहा गया है। कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य, गीत और वादित्र की गणना शिल्प में की गई है। इसकी चर्चा अभी हमने ऊपर की है। भारतीय शास्त्रों में १६ से लेकर ४८ संख्या तक के संस्कारों का विवरण मिलता है। ये मानव के शरीर के साथ उसकी आत्मा का भी संस्कार करते हैं। मीमांसा दर्शन के शाबरभाष्य में संस्कार की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य" (३.१.३)। यहाँ वस्तु के संस्कार की बात कही गई है और बादरायणसूत्र के शांकरभाष्य में—"संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन स्याद् दोषापनयनेन वा" (१.१.४) इस प्रकार आत्मसंस्कार भी चर्चित है। यहाँ संस्कार शब्द संस्कृति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, ऐसा हम मान सकते हैं। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में भी हमारे लिए संस्कृति शब्द अपरिचित नहीं रहा है।

"यूनान मिस्र रोमा सब मिट गये जहाँ से" इस उक्ति का यही अभिप्राय है कि जब ये सब पुरातन संस्कृतियाँ नामशेष रह गईं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर-गंभीर गति में आज भी बह रही है। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पनपी संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने की अद्भुत सामर्थ्य इसमें है। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य—दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े आत्मविश्वास के साथ सामना किया है और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज भी नहीं किया। प्रारम्भ से ही यह संस्कृति त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार मजबूत पायों पर टिकी हुई है। आज ये मूल मान्यताएँ लड़खड़ाती-सी नजर आ रही हैं।

वैदिक धारा में कभी हिंसाप्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। उसने मोक्षपथ की यात्रा के लिए वैदिक

कर्मकाण्ड को कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज पूरे विश्व की धरोहर हैं। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी देश और काल की सीमा को लाँघ कर सर्वत्र आध्यात्मिकता का प्रसार करने में आज भी समर्थ हैं। कठोपनिषद् कहती है—''न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'' (१.२७), अर्थात् मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं हो सकती। इसके विपरीत मार्क्सवाद हमें कहाँ ले जा रहा है। इस मत के समर्थक एक स्तंभलेखक भारत को बहुलतावादी देश मानते हैं। धर्म की दृष्टि से यह देश बहुलतावादी अवश्य है, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से यह एकता के मजबूत सूत्र से जुड़ा है, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए। ''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'' यह यहाँ का आदर्श वाक्य है।

आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, तन्त्रागमीय, पौराणिक, सन्त, सिक्ख, इस्लाम और ईसाईयत धाराओं का जल सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में मिलकर बह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ संपूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित हो, इसके लिए प्रयत्न होना चाहिए। धार्मिक दृष्टि से बहुलतावादी होने पर भी यह देश सांस्कृतिक दृष्टि से एक है। इसके लिए खिचड़ी संस्कृति को प्रोत्साहन देने के बजाय समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त करना चाहिए। तभी देश में सही माने में एक राष्ट्रीयता का विकास होगा। कुछ धर्मों और मतवादों को यह अभिप्रेत नहीं है। ये भारत को बहुलतावाद के नाम पर विखण्डित देखना चाहते हैं। देश के विभिन्न भागों में धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में बहुलतावाद का यह नाटक लुभावने रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। हिन्दुत्व नहीं, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही इस दुष्प्रवृत्ति को रोक सकता है। यह तभी संभव है, जब सांस्कृतिक अनुशीलन के प्रसंग में विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित शास्त्र की सामाजिक दृष्टि को समुचित स्थान दिया जाय और उसके आधार पर धर्म और संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझते हुए अपसंस्कृति के स्वरूप को उजागर किया जाय।



यह अपसंस्कृति क्या है ?

हमने अन्यत्र बताया है कि आर्थिक उन्नति से देश की सभ्यता का और आध्यात्मिक उन्नति होने पर संस्कृति का निर्माण होता है। वर्तमान विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में जो सभ्यताओं का और संस्कृतियों का निर्माण हुआ, उनके मूल में इस तथ्य को देखा जा सकता है। समय के अनुसार प्रचलित नई-नई सभ्यताओं और संस्कृतियों के उत्थान और पतन का अपना इतिहास है। सभ्यता को कला का और संस्कृति को अध्यात्म का प्रतिफल माना जा सकता है। प्रत्येक देश की आध्यात्मिक उन्नति का आधार हम प्रधान रूप से दर्शन को मान सकते हैं। दर्शन बदलता रहता है और संस्कृति भी। हमने देखा है कि विश्व के विद्यमान दर्शनों में दृष्टिभेद होता रहा है और उसीके आधार पर संस्कृतियों का भेद भी। अनेक देशों में दर्शन की अपेक्षा जब धर्म ने अधिक हस्तक्षेप किया, तो वहाँ की संस्कृति में विकृति आने लगी और ये विकृतियाँ उनके विनाश का करण तो बनी ही, अपसंस्कृति के रूप में ये शुद्ध संस्कृतियों को विकृत कर उनके विनाश का भी कारण बनी हैं। अपसंस्कृति को हम इसी रूप में परिभाषित कर सकते हैं। संस्कृतियों के उत्थान और पतन का यही संक्षिप्त इतिहास है।

आज की अपसंस्कृतियों के प्रमुख तत्त्व हैं—धर्मान्तरण और आतंकवाद। काका कालेलकर ने दुनिया के धर्मों को आत्मतुष्ट और स्पर्धालु के रूप में विभक्त किया है। बौद्ध धर्म के साथ इस्लाम और ईसाई धर्मों को उन्होंने स्पर्धालु बताया है। यह स्पर्धा ही इनको धर्मान्तरण के लिए और उसको सफल न होते देख आतंकवाद के लिए प्रेरित करती है। बौद्ध महाकवि मातृचेट ने बताया है कि स्पर्धा के अभाव में ही भगवान् बुद्ध अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर सके। महात्मा गांधी ने भी स्पर्धा के भाव को मानव के लिए अहितकर बताया है। धर्मान्तरण में केवल स्पर्धा का भाव ही नहीं है, दूसरे धर्म के प्रति घृणाभाव को फैलाना भी है। डॉ० अम्बेडकर के अनुयायी नव बौद्धों में इसको देखा जा सकता है। इस्लाम शुद्ध रूप से इसके साथ आतंकवाद को भी फैलाता है और ईसाई धर्म सेवाभाव के साथ छल-

कपट का भी सहारा लेता है। यहीं से अपसंस्कृति को बढ़ावा मिलता है। इस अपसंस्कृति का तेजी से प्रसार आज की राजनीति में तुष्टीकरण के रूप में हुआ है। भयभीत अधिसंख्य भारतीय प्रजा को बन्दर-घुड़कियों से और हठवादिता से भी आतंकित किया जा रहा है।

इसके अनेक उदाहरण अभी हमने दिए हैं। २० जुलाई, २००५ के दैनिक जागरण में "धार्मिक भेदभाव पर मुहर" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। वहाँ बताया गया है कि भारत विश्व का एकमात्र देश है, जहाँ अल्पसंख्यकों को मजहब के आधार पर बहुसंख्यक हिन्दुओं से अधिक अधिकार मिले हैं। प्रस्तुत वर्ष के बजट में अल्पसंख्यकों के लिए दी गई अनेक सुविधाओं की वहाँ चर्चा की गई है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुछ विषयों के पाठ्यक्रम में ५० प्रतिशत मुसलमानों के आरक्षण की घोषणा, भारत के शिक्षामन्त्री डॉ० राव के अलीगढ़ विश्वविद्यालय संबन्धी सुझाव का अनादर, मुस्लिम मतावलम्बी संस्थानों के संचालन के संबन्ध में दिये गये सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की अवहेलना, विश्व के २८० से अधिक देशों में केवल भारत में ही अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना, हजयात्रा के लिए अतिसमृद्ध मुसलमानों को भी आर्थिक सहायता देना जैसी अनेक घटनाओं का यहाँ उल्लेख किया है। गुड फ्राइ डे, एप्रिल फूल जैसे कुछ विदेशी त्यौहार यहाँ मनाये जाने लगे थे, किन्तु अब वेलेन्टाइन डे, शैम्पेन डे जैसे त्यौहारों की संख्या बढ़ती जा रही है। विश्वविद्यालयों में आजकल रैगिंग के नाम पर एक नई अभद्रता का जोर-शोर से प्रचार हो रहा है। क्या इनकी बाढ़ के आगे भारतीय संस्कार बचे रह सकेंगे?

बंगलादेश के घुसपैठियों की संख्या के बारे में वहाँ के गवर्नर के सार्वजनिक वक्तव्य का मुख्यमंत्री द्वारा खण्डन हमें क्या सूचना देता है? लगता है कांग्रेसी राजनेता एक बार के विभाजन से संतुष्ट नहीं हुए हैं और अपसंस्कृति के वशीभूत होकर ये भारतीय संस्कृति को ही नहीं, पूरे देश को यूरोप के समान खंड-खंड में विभक्त देखना चाहते हैं। क्या हम अपसंस्कृति की वास्तविक छिपी मंशा को फलीभूत होता देखना चाहेंगे।

लालू यादव जैसे विदूषक की हमें ज्यादा चर्चा नहीं करनी है। यह अपसंस्कृति का ही खेल है कि जेल में जिसका स्थान होना चाहिए, वह भारतीय मन्त्रिमण्डल का प्रभावशाली व्यक्ति है और जिसने अभी बिहार विधानसभा को विघटित करवा कर पुनः लोकतन्त्र का उपहास किया है। विदूषक और कर भी क्या सकता है? हमें मियाँ मुलायम सिंह से अवश्य कुछ कहना है। राष्ट्रभाषा के पक्ष में और अंग्रेजी भाषा के खिलाफ इन्होंने सशक्त आन्दोलन चलाया था, किन्तु उसको अधूरा ही छोड़ दिया। इन्होंने जब भारत के शासन को विदेशी हाथ में जाने से बचाया, तब हमने इनको बधाई-पत्र भेजा था, किन्तु आज भारत माता को गाली देने वाला उनका अनन्य सहायक बन बैठा है। इस देश में अपसंस्कृति का प्रसार करने वालों के साथ मिलकर प्रधानमन्त्री बनने की अभिलाषा को इस तरह के अनेक राजनेता पूरी करना चाहते हैं। वे भले ही प्रधानमन्त्री बन जाँय, किन्तु उनकी छबि देश के सोने को गिरवी रख देने वाले व्यक्ति से बढ़ कर नहीं होगी। लोकैषणा व्यक्ति को किस तरह नचाती है, देश के सामने यह एक नया उदाहरण प्रस्तुत हो रहा है।

प्रधानमन्त्री बनने का चस्का इन्हींको नहीं लगा है। पूर्व उपप्रधानमन्त्री श्री लालकृष्ण आडवाणी भी इस नामावली में अपना नाम दर्ज कराने के लिए आतुर हैं। आर्य-द्रविड़ की पाश्चात्य कल्पना को सही मान कर द्रविड देश के श्री रामास्वामी मुदालियार ने रावण को द्रविड़ और भगवान् श्री राम को आर्य मान कर जो कुछ किया, उससे हम सब परिचित हैं। श्रीमान् आडवाणी उसी राह पर चल कर क्या करना चाहते हैं, वे ही जानें। किन्तु इनके दुराग्रह को देखते हुए तो ऐसा लगता है कि यदि ये प्रधानमन्त्री बनने में सफल हो गये, तो एक बार फिर इस देश को आपातस्थिति का सामना करना पड़ सकता है।

बड़बोले लालू यादव के बिहार में एक और उनकी छाया रामविलास पासवान के रूप में उभड़ रही है। इसने भारतीय जनता पार्टी को राजनीतिक अछूत मानकर अन्य दलों को मुस्लिम मुख्यमन्त्री स्वीकार करने का जो आग्रह किया, इससे वे अपना आधार ही बिखेर चुके हैं। भविष्य की हम

प्रतीक्षा में हैं। रेलमन्त्री रहते समय ये महाशय महात्मा गांधी के प्रिय भजन में आये 'वैष्णव जन' शब्द से भड़क उठे थे और उसका गान रुकवा दिया था। अपसंस्कृति से आक्रान्त दिमाग का इससे अच्छा नमूना हमें कहाँ मिलेगा ? इस अपसंस्कृति से देश को छुटकारा दिलाने का एकमात्र उपाय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है। बहुसंख्यक भारतीयों के ऊपर थोपा गया 'हिन्दुत्व' शब्द अब प्राणहीन हो गया है।

इधर अनेक संगठन इसको जीवित करने का निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं। इन सबमें आपस में भी कोई एका नहीं है। यह उनका बन्दरिया व्यामोह ही सिद्ध होगा। हिन्दू समाज ने जयचन्दी मनोवृत्ति को भी अभी तक छोड़ा नहीं है। आपस का अविश्वास इनमें आज भी बरकरार है।

हमें सौ-पचास वर्ष की संकीर्ण मानसिकता छोड़ कर, वेदों से लेकर सन्तों तक की उदार, समन्वयप्रधान दृष्टि का सहारा लेकर इस देश को नये दर्शन, नई संस्कृति से संपन्न करना चाहिए।

आज इस देश में प्रचलित अपसंस्कृतियाँ द्रविड़-आर्य के छल से इस देश की मानसिकता को विकृत कर, भारत की मूल संस्कृति को नष्ट कर अपना-अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहती हैं। इस देश को तो अखण्ड भारतीय संस्कृति से ही संचालित किया जाना चाहिए। अन्यथा यह देश असंगठित होकर अन्ततः खंड-खंड हो जायेगा। हिन्दुत्ववादी संगठन इस तथ्य को जितना जल्दी समझ सकें, उतना इस देश के हित में होगा। अन्यथा आडवाणी की मानसिकता का यहाँ तीव्र प्रसार होगा और समुद्र की लहरों से दक्षिण में क्षतविक्षत महाबलीपुरम् के मन्दिरों के समान और पश्चिम में द्वारकापुरी के समान सब कुछ कालसमुद्र में विलीन हो जायगा। हम पूरे आत्मविश्वास के साथ कहना चाहते हैं कि ऐसा नहीं होगा और भारत का प्रबुद्ध जनमानस अपसंस्कृति के जाल से अपने को मुक्त रख सकेगा।

इसके लिए प्राचीन काल के समान आज भी सभी धर्मों और संस्कृतियों में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है। भारत ने पंचायतन और षडायतन पूजा के माध्यम से इसको सफल बनाया है। आज उसी दृष्टि को पुनः जगाने की आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में हम तन्त्रागमशास्त्र

संमत ''एक ही जन्म में मुक्ति'' के सिद्धान्त को प्रस्तुत करना चाहते हैं। सभी धर्मों के प्रति समतादृष्टि का उन्मेष तभी संभव हो सकता है। सभी धर्मों में इस तरह के सिद्धान्तों की खोज हम कर सकते हैं, जिनके आधार पर इनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित किया जा सके।



एक ही जन्म में मुक्ति

आगम-तन्त्रशास्त्र की प्राय: सभी शाखाओं में यह सिद्धान्त मान्य है कि मनुष्य इसी जन्म से मुक्त हो सकता है। इससे एक संभावना बन सकती है। सेमेटिक धर्मों में पुनर्जन्म की बात नहीं मानी गई है। मृत्यु के उपरान्त आदमी कब्र में दबा रहता है। कयामत आने पर ईश्वर उसके किए कर्मों का लेखा-जोखा लेता है और तदनुसार उसे जन्नत (स्वर्ग) या दोजख (नरक) देता है। इन धर्मों में मोक्ष की, कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने की कोई व्यवस्था नहीं है।

हमारे यहाँ न्याय-वैशेषिक दर्शन में दु:खान्त को ही मोक्ष माना गया है। इस पाषाण-कल्प स्थिति की दार्शनिक जगत् में पर्याप्त समालोचना हुई तथा शैव और पाशुपत मत के अनुवर्ती व्योमशिव, भासर्वज्ञ जैसे न्याय-वैशेषिक आचार्यों ने मोक्ष की परिभाषा में आवश्यक संशोधन प्रस्तुत किया। मनुष्य की प्रतिभा को तो अब विज्ञान ने भी स्वीकार कर लिया है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी भारत में इसे बहुत पहले से मान्यता मिली हुई है।

शैवागमों में बताया गया है कि मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति तीन तरह से होती है—१. गुरु की कृपा से, २. शास्त्रों के अध्ययन से और ३. अपनी प्रतिभा से—"गुरुत: शास्त्रत: स्वत:"। बौद्ध मत की मन्त्रयान शाखा में चौथे उपाय के रूप में 'परत:' को भी जोड़ा है, अर्थात् अन्य इष्टजनों की सहायता से भी मनुष्य को नई-नई जानकारियाँ मिलती हैं। इन सबमें अपनी प्रतिभा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। सन्तों की वाणियों में इस प्रतिभा का उत्कर्ष हमें पदे-पदे देखने को मिलता है।

प्राचीन भारत में वैदिक, जैन और बौद्ध जैसे परस्परविरोधी धर्मों का तथा सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक (वेदोपनिषद्) नामक परस्पर समन्वय स्थापित करने वाले पाँच सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ था। इनके घात-प्रतिघात से कालान्तर में वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म का त्रिविध विकास हुआ। ये आजकल श्रौत-स्मार्त-पौराणिक, दिगम्बर-श्वेताम्बर-स्थानकवासी और हीनयान-महायान-वज्रयान के नाम से जाने जाते हैं।

अद्वयवज्र जैसे बौद्ध तान्त्रिक ने इनको श्रावकनय, पारमितानय और मन्त्रनय—ये सौम्य नाम दिये हैं। अद्वयवज्र के मन्त्रनय की विशेषता को दिखाते हुए कहा है कि निर्वाण की प्राप्ति के यहाँ सरलतम उपाय बताए गए हैं।

आगे वे कहते हैं कि पारमितानय में अनेक जन्मों की साधना के उपरान्त ही मुक्ति मिलती है, किन्तु मन्त्रनय में इसकी प्राप्ति एक ही जन्म में हो जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता (६.४५) का भी कहना है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न के उपरान्त ही व्यक्ति को मुक्ति मिल सकती है। इसके विपरीत तन्त्रशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं में एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। "काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह पौराणिक सिद्धान्त भी एक ही जन्म में मुक्ति की इस तान्त्रिक मान्यता को स्वीकार करता है, शास्त्रों में 'अपश्चिम जन्म' के रूप में इस मत को मान्यता मिली है। अवधूतसिद्ध के भक्तिस्तोत्र (श्लो० ३०) में बताया गया कि प्राचीन आचार्यों (तीर्थिकों) ने माना है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद ही मुक्ति मिल सकती है, किन्तु शैवमत में तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है। इस प्रसंग में अवधूतसिद्ध एक मनोरंजक युक्ति देते हैं कि आप तो अनेक जन्म मानते हैं। उनमें से यह जन्म आप हमारे मत के अनुसार जी लीजिये। आप अवश्य मुक्त हो जायेंगे। मुक्ति न मिलने पर भी आपकी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि आप तो अनेक जन्मों की साधना से ही मुक्त होने की बात मानते हैं।

आगम-तन्त्रशास्त्र का साधक इसी जन्म में बुद्धत्व अथवा शिवत्व प्राप्त कर सकता है, प्रत्येक प्राणी में यह शक्ति छिपी हुई है। गुरु की कृपा से, शास्त्रों के अध्ययन से और स्वयं अपने प्रयत्न से भी व्यक्ति इस शक्ति को जगा सकता है। कर्मसाम्य इसका सबसे सरल उपाय है। सुन्द-उपसुन्द न्याय से जब व्यक्ति के पाप और पुण्य आपस में टकरा कर नष्ट हो जाते हैं, तो उस स्थिति को **कर्मसाम्य** अवस्था कहा जाता है। इस स्थिति में उसको न स्वर्ग की कामना रहती है और नरक का भय। इसके लिए "मुच्यते सर्वपापेभ्यः" जैसे अर्थवाद वाक्यों के सहारे कलुषित जीवन जीने वालों की सामाजिक मान्यता शिथिल हो, यह आवश्यक है। भ्रष्टाचार का वट-वृक्ष

तभी सूख सकता है। इसके लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर, "परस्परदेवो भव" जैसे आदर्श-वाक्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा होने की आवश्यकता है। तभी **हम भगवान्** सम्यक् संबुद्ध की अभिलाषा के अनुसार इसी लोक में सभी प्राणियों को दुःख से मुक्ति दिला सकते हैं, योगी अरविन्द के अनुसार इसी धरती को स्वर्ग बना सकते हैं, इसी जन्म में अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करा सकते हैं।

आगम-तन्त्रशास्त्र ने मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है और बाह्य कर्मकाण्डों की अपेक्षा आन्तर चित्तशुद्धि पर अधिक जोर दिया है। मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-८१) में इसकी पद्धति को देखा जा सकता है। इसी अभिप्राय के वचनों से आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थ और सिद्ध-साहित्य भी भरे पड़े हैं। बाद में विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित सन्त-साहित्य में, विशेष कर कबीर जैसे निर्गुणी सन्तों के साहित्य में हमें इस दृष्टि का चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है।

शिवधर्म, शिवधर्मोत्तर जैसे शैव ग्रन्थों में तथा गुह्यसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ज्ञानसिद्धि, अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश, चण्डरोषण-तन्त्र जैसे बौद्ध ग्रन्थों में भी इसको मान्यता मिली है। ख्रीष्ट्र, इस्लाम आदि सेमेटिक धर्म जन्मान्तर में विश्वास नहीं रखते, इसकी चर्चा प्रारम्भ में ही हो चुकी है। एक ही जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त उनमें भी कुछ संशोधन कर सकता है। वहाँ जीव अनन्त काल तक ईश्वर के न्याय की प्रतीक्षा में पड़ा रहता है और यहाँ उसको तुरन्त मुक्ति मिल जाती है। कयामत आने तक रूह को कब्र में दबा कर रखने के बजाय उसे तुरन्त अपने पास बुला लेने की दुआ माँगना क्या बुरी बात है? वैदिक धर्म के समान ही ये सभी सेमेटिक धर्म भी स्वर्ग-नरक से ऊपर नहीं उठ पाए हैं।

मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ की स्वीकृति भारतीय दर्शनों की विशेषता है। मोक्ष के स्वरूप, साधन आदि के विषय में यहाँ पर्याप्त विचार हुआ है। सर्वविध दुःखों की निवृत्ति और अनन्त आनन्द की अभिव्यक्ति इसका प्राथमिक स्वरूप है। इसके लिए तन्त्रागम-शास्त्र में शक्तिपात, मलपरिपाक और कर्मसाम्य की विशेष रूप से चर्चा की गई है। शक्तिपात से, अर्थात्

ईश्वर और गुरु की कृपा से व्यक्ति को दीक्षा और ज्ञान की प्राप्ति होती है। पोषण और पुष्टि के नाम से भी इसीका बोध होता है—''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः''। इस प्रकार दीक्षा और ज्ञान से संपन्न पुष्ट (बलशाली) आत्मा अपने प्रयत्न से आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों का नाश कर कर्मसाम्य की स्थिति तक पहुँचता है, जिसकी अभी ऊपर चर्चा की गई है। इस स्थिति में व्यक्ति पुण्य और पाप से ऊपर उठ जाता है और उसमें आत्मसाक्षात्कार की सामर्थ्य प्रकट हो उठती है। बौद्ध तन्त्रों में इसे चित्तप्रभास्वरता नाम दिया गया है। शास्त्रों में जीवन्मुक्तावस्था के नाम से यह चर्चित है। शाक्त तन्त्रों के अनुसार यह व्यक्ति का अपश्चिम जन्म है, अर्थात् इसके बाद उसको नया जन्म नहीं लेना पड़ता।

वीरशैव धर्म-दर्शन के ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि (१८.१७) में भी इस स्थिति का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। वीरशैव सिद्धान्त में मलत्रय की निवृत्ति के लिए त्रिविध दीक्षा आवश्यक मानी गई है। दीक्षा के द्वारा शिष्य के मलत्रय की निवृत्ति होती है और उसका संकुचित ज्ञान विकसित हो जाता है। इस प्रकार विकसित ज्ञान का साधक शिव के साथ समरसभाव को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। इस मत की भी यह सुस्पष्ट मान्यता है कि वीरशैवों की एक ही जन्म में मुक्ति हो जाती है। यह स्त्री और पुरुष के समान अधिकार का भी प्रबल समर्थक है। इसमें हड़प्पा-मोहेंजोदड़ो की अनेक मान्यताएँ आज भी प्रचलित हैं। हम शिवलिंग-धारण और भूनिक्षेप की उनमें प्रधान रूप से चर्चा कर सकते हैं। आज भी इनके यहाँ शव को जलाया नहीं जाता, भूनिक्षेप किया जाता है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है कि वह पुराने और नये को भी अपने में समेटे हुए है। क्या सेमेटिक धर्म और उनके धर्मगुरु इससे कुछ सीखना चाहेंगे कि धर्मों और संस्कृतियों के संगम से ही ऐसा संभव हो सकता है।



पदत्याग की आदर्श स्थिति

एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर तदनुसार जीवनयापन करने का यदि हम संकल्प कर लेते हैं, तो राजनीतिज्ञों के लिए पदत्याग की आदर्श स्थिति क्या हो? इसका निर्धारण भी सरलता से किया जा सकता है। आधुनिक भारतीय संविधान प्रधान रूप से ब्रिटिश संविधान का अनुसरण करता है। वहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण अलिखित अंशों को भी मान्य किया गया है। महत्त्वपूर्ण पदों पर स्थित राजनेताओं को कब पदत्याग कर देना चाहिए, इस सम्बन्ध में एक लम्बी परम्परा वहाँ प्रचलित है कि अपने प्रति किसी भी तरह के प्रवाद के प्रचलित हो जाने पर संबद्ध राजनीतिज्ञ को बिना 'ननु न च' किये अपना पद छोड़ देना चाहिए। गणतन्त्र में व्यक्ति का अपना कोई महत्त्व नहीं होता। वहाँ मन्त्रिमण्डल की सामूहिक जिम्मेदारी होती है। किसी एक मन्त्री, मुख्यमन्त्री और प्रधानमन्त्री की भी समान स्थिति मानी जाती है। इनमें से किसी के भी हटने पर प्रशासन में कोई व्यवधान नहीं आता। ब्रिटिश शासन के इस अलिखित प्रावधान का पालन वहाँ तो होता ही है, भारत में भी इसके कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। श्रीमान् लालबहादुर शास्त्रीजी ने तो रेल दुर्घटना की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर पदत्याग कर दिया था। आज इसके लिए पूरा जोर लगा देने पर भी कोई टस से मस नहीं होता। महीने दो महीने में पदत्याग की माँग उठती रहती है और उसको इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दिया जाता है।

यहाँ तक तो गनीमत है, किन्तु भारत में यह स्थिति बहुत आगे बढ़ गई है। गणतन्त्र के सम्यक् संचालन के लिए दो-तीन राजनीतिक दल पर्याप्त हैं, किन्तु भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इनकी संख्या बढ़ती गई है। राजनेता निकाले तो जाते हैं, किन्तु वे अपने अहंभाव की तृप्ति के लिए अधिनायकशाही का सहारा लेकर एक नया दल खड़ा कर लेते हैं। आज इस तरह की टूट-फूट से बने और नये सिरे से खड़े किए गए दलों के कारण जो संख्यावृद्धि हुई है, उससे हम सब परिचित हैं। बरसाती कुकुरमुत्तों के जैसे पूरे देश में फैले राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों में गणतन्त्रीय बाध्यता के

कारण कराये गये चुनावों में दलीय प्रमुख पदों पर जाने-पहिचाने चेहरे ही आते-जाते रहते हैं। बँधा पानी गँदला हो जाता है, एक मछली सारे पानी को गँदला कर देती है। वही स्थिति आज इन दलों की हो गई है। अधिनायकशाही ने लोकतंत्र की भावना को दबा दिया है। इस स्थिति में वंशवाद का पनपना कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। गणतन्त्र में ''नेहरु के बाद कौन'' जैसे प्रश्नों को उछालने का कोई प्रसंग ही नहीं था। व्यक्तिवाद को पनपाने की बू इसमें से निकलती थी और आगे चलकर इस देश में वही हुआ। व्यक्तिवादी राजसत्ता के सामने ही पदत्याग एक समस्या बन कर खड़ी होती है और उसीकी यह परिणति है कि नाना प्रकार के अपराधों में लिप्त व्यक्ति भी पदत्याग के लिए तैयार नहीं है और वह भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रवाद की रक्षा में अपने जीवन की आहुति देने वाले भद्र पुरुषों को अपराधी घोषित करने-कराने में लगा हुआ है।

सम्प्रदायवाद और जातिवाद के विरोध का नारा लगाने वाले एवं धर्मनिरपेक्षता और प्रगतिशीलता का झंडा ऊपर लहराने वाले ये तथाकथित राजनेतागण जब अपने उद्दाम अहंकार के वशीभूत हो व्यक्तिवादी बन जाते हैं, सामूहिक नेतृत्व को तिलांजलि दे देते हैं, तो इस स्थिति में स्वेच्छा से तो दूर की बात, नाना प्रकार के दबाबों के आगे भी न झुककर स्वेच्छाचारिता का ही प्रदर्शन करते हैं। क्या ऐसे में अलिखित विधान उनका कुछ बिगाड़ पाता है? सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को समय-समय पर बदल देने की हिम्मत इनके पास है। ऐसी स्थिति में भ्रष्ट राजनीतिज्ञों से छुटकारा पाने के लिए उनको पदत्याग के लिए कैसे मजबूर किया जाय? उनको चुनाव के अयोग्य घोषित करने एवं चुन लिए जाने पर उनको वापस बुलाने का प्रावधान कैसे बने? इस पर प्रबुद्ध भारतीय जनता को चिन्तन करना चाहिए। भारत में लम्बे समय तक राजाओं का शासन रहा है। राजा जैसे किसी राजनेता का अनुचर बन जाना, भारतीय प्रजा की नियति बन गई है। ऐसी स्थिति में भारतीयता के प्रति दृढ़ आस्था ही, अपसंस्कृतियों का सबल प्रतिरोध ही हमारी रक्षा कर सकता है। इस देश ने समय-समय पर अपने इस पावन कर्तव्य का निर्वाह किया है। भारतीय जनता आज भी इस विश्वास पर

टिकी हुई है कि व्यक्ति को स्वयं अपने तईं ही नहीं, सार्वजनिक रूप से भी निर्मल प्रतीत होना चाहिए। एक ही जन्म में मुक्ति पा लेने की प्रबल इच्छा ही व्यक्ति को इस स्थिति तक पहुँचा सकती है कि वह स्वयं सभी एषणाओं से ऊपर उठकर राष्ट्र को भी उज्ज्वल बना सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम धर्मों और संस्कृतियों के सामंजस्य के लिए सचेष्ट हों।



धर्मों और संस्कृतियों में सामंजस्य

यह दुनिया सुख-शान्ति से रह सके, इसके लिए आवश्यक है कि सेमेटिक धर्म ही नहीं, वर्तमान समय में प्रचलित सभी धर्मों में सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति जगे। भारत में एक समय ऐसा आया था कि यहाँ प्रचलित सभी धर्मों की दार्शनिक पृष्ठभूमि में पंचायतन और षडायतन पूजा-पद्धतियों के माध्यम से सफल सामंजस्य स्थापित हुआ है। स्मार्त धर्म और पौराणिक धर्म में भी इस तरह का संगम देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए गौतमधर्मसूत्र जैसे स्मार्त ग्रन्थों में ४८ संस्कारों का और पुराणों के भक्ति सम्प्रदाय में विकसित ब्राह्मण और चाण्डाल में साम्यदृष्टि का विकास हुआ।

इनके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका हैं। यह भी बताया गया है कि कश्मीर के महान् दार्शनिक अभिनवगुप्त की **आगम** की परिभाषा में दुनिया में प्रचलित सभी धर्म-ग्रन्थों का और उनके प्रवर्तकों का समावेश किया जा सकता है। आज से १५०० वर्ष पहिले हुए महान् ज्योतिषी वराहमिहिर के उदार वचनों का भी हमने संग्रह किया है कि जिसको जो देवता प्रिय है, वह उसीकी उपासना करे, किन्तु इतना ध्यान रहे कि वह एक उपासना-पद्धति को दूसरी से न मिलावे। बिना दूसरों की उपासना का अनादर किए, वह अपने आराध्य की उपासना अपनी पद्धति से करे। इस विषय को हमने अपने बृहद् ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" के स्मार्ताधिकार में विस्तार से प्रस्तुत किया है।

पंचदेवोपासना (पंचायतन पूजा) का विधान यहाँ बंगाल के कृष्णानन्द तर्कवागीश के तन्त्रसार के प्रमाण से बताया गया है। पाँच देवों में भवानी (शक्ति), गोविन्द (विष्णु), शंकर, आदित्य (सूर्य) और गणनाथ (गणेश) परिगणित हैं। मुख्य देवता की मध्य में और अन्य चार देवताओं की ईशान, अग्नि, नैर्ऋत्य और वायव्य कोणों में पूजा की जाती है। कोणों में अर्चनीय देवताओं का क्रम सर्वत्र भिन्न प्रकार का है। यथा भगवान् शंकर की उपासना करते समय ईशान कोण में अच्युत (विष्णु) की, आग्नेय में तपन (सूर्य)

की, नैर्ऋत्य में गणेश की और वायव्य कोण में पार्वती की आराधना की जाती है। काशी विश्वनाथ मन्दिर में इस क्रम को देखा जा सकता है। यहाँ मध्य में द्वादश ज्योतिर्लिंगों में अन्यतम काशी विश्वनाथ विश्वेश्वर लिंग के रूप में विराजमान हैं। शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्घात में भी हमने इस विषय को प्रस्तुत किया है। इस उदार मनोवृत्ति का जैन, बौद्ध और पौराणिक (स्मार्त) धर्म पर कितना अनुकूल प्रभाव पड़ा, इसको निम्न तीन श्लोकों से आँका जा सकता है—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥

[समझदार आदमी तपा कर, काट कर और कसौटी के ऊपर घिस कर सोने की परीक्षा 'करता है। भगवान् बुद्ध इस दृष्टान्त को देकर बौद्ध भिक्षुओं से कहते हैं कि आप लोगों को भी मेरी कही बात को परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण करना चाहिए, मेरे प्रति गौरव के भाव के कारण नहीं]।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य ग्राह्यः परिग्रहः॥

[जैन ग्रन्थ षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में यह वचन उद्धृत है। यहाँ बताया गया है कि मेरा भगवान् महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं है और न कपिल आदि के प्रति कोई द्वेषभाव ही है। मेरा तो यह कहना है कि जिसका भी वचन युक्तिसंगत हो, उसको ग्रहण करना चाहिए]।

तीसरा वचन वायुपुराण का है—

आगमादनुमानाच्च प्रत्यक्षादुपपत्तितः।
परीक्ष्य निपुणं भक्त्या श्रद्धातव्यं विपश्चिता॥

[शास्त्रों के प्रमाण से, अनुमान प्रमाण से और प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा नाना प्रकार की तर्कपद्धति से भी पूरी सावधानी के साथ भक्तिभावपूर्वक परीक्षा करके ही विद्वान् व्यक्ति को किसी बात पर श्रद्धा करनी चाहिए]।

इस अन्तिम श्लोक को हम प्रथम श्लोक का पूरक मान सकते हैं। वहाँ सुवर्ण की परीक्षा की पद्धति बताई गई है, यहाँ किसी भी वचन की परीक्षा के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) नामक तीन प्रमाणों के साथ

तर्क-पद्धति को भी प्रस्तुत किया गया है। ''यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'' इस वचन से भी इसकी पुष्टि होती है। यह परीक्षा भक्तिभावपूर्वक की जाती है और तब भगवान् बुद्ध सरीखे अवतारी पुरुषों की भी उक्तियों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जाता है। हमें अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी इस तरह की उक्तियों की खोज करनी चाहिए। अस्तु.

प्रस्तुत स्मार्ताधिकार में हमने इस उदार स्मार्त दृष्टि का समर्थन करने वाले साहित्य का विस्तार से परिचय दिया है। स्मार्त-तन्त्रों की अपनी दार्शनिक पद्धति है। अभिनवगुप्त और उनके शिष्य क्षेमराज ने दर्शन की इसी पद्धति का अनुसरण करने की सलाह दी है। ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' नामक हमारे संस्कृत ग्रन्थ में संगृहीत ''आगमीयं दर्शनम्'' (पृ० १२५-१३९) और ''आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः'' (पृ० १८२-१९९) शीर्षक निबन्धों में इनका स्वरूप देखा जा सकता है।

इस विषय पर गम्भीरता से यदि हम विचार करें, तो भारत में इस दृष्टि का विकास ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी तक अवश्य हो चुका था, जब आधुनिक इतिहासज्ञों के अनुसार सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि का और जैन धर्म के 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का प्रादुर्भाव हो चुका था। कम्युनिज्म से प्रभावित कुछ इतिहासलेखक जैन धर्म की प्रवृत्ति भगवान् महावीर से मानते हैं। वे अपनी आदत से लाचार हैं। महाभारत के शान्तिपर्व के अन्त में स्थित नारायणीयोपाख्यान में कृतान्तपंचक के रूप में सांख्य, योग, पांचरात्र (वैष्णव), पाशुपत (शैव) और वेदारण्यक (उपनिषद्) को मान्यता मिल चुकी थी। आगे चल कर इतिहास-पुराणों, स्मृतियों और आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इनके प्रामाण्य की चर्चा देखी जा सकती है। पुष्पदन्त के महिम्नस्तव और वीरशैव दर्शन के ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि में भी इनका अप्रतिहत प्रामाण्य स्वीकृत है। इन पाँच सिद्धान्तों के आधार पर ही परवर्ती काल में पंचायतन पूजा-पद्धति का विकास हुआ, ऐसा माना जा सकता है।

सुधारवादी आन्दोलन ने देश को एक हजार वर्ष की तन्द्रा से जगाने का स्तुत्य प्रयास किया, किन्तु उसमें एक कमी रह गई कि ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद

की दृष्टि का अनुसरण करते हुए उन्होंने वेद के अतिरिक्त सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, जैन-बौद्ध और पांचरात्र-पाशुपत मतों की तथा उनके साहित्य की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी। यह बात आधुनिक हिन्दुत्ववादी संगठनों के प्रवर्तक महानुभावों पर भी लागू होती है। इसीलिए वे सेमेटिक धर्मों के साथ अपना तारतम्य बनाने में सफल नहीं हो रहे हैं। विगत २५०० वर्षों में विकसित उदारवादी भारतीय साहित्य की उपेक्षा कर देने के कारण ही पूर्व काल में उपेक्षित जनों के साथ भी उनका पूरी तरह से सौमनस्य पनप न सका। महात्मा गांधी का आन्दोलन रूढ़िवादी सनातन धर्म से टकरा गया और कालजयी सनातन धर्म के स्वरूप को वे पहिचान न सके, जो तन्त्रागमशास्त्र की और सन्तों की वाणी के आधार पर विकसित हुआ।

भगवाकरण के नाम से आजकल के धर्मनिरपेक्षतावादियों ने इसको तिरस्कृत कर दिया और सुधारवादियों की तरह आधुनिक हिन्दु-संगठनों के संचालकों ने इसकी उपेक्षा कर दी है। "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" (पृ० १२२-१३९) में संगृहीत "भारतीय वाङ्मय का कालिक पर्यवेक्षण" शीर्षक निबन्ध में हमने भगवाकरण के नाम से उपेक्षित भारतीय साहित्य का विस्तृत परिचय दिया है। इसमें संस्कृत भाषा के ग्रन्थों की तथा चीनी-तिब्बती और अरबी-फारसी अनुवादों की भी चर्चा है। इस विशाल साहित्य की उपेक्षा हमने साम्यवादी बुद्धिजीवियों के बहकावे में आ कर की है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों के कलिवर्ज्य-प्रकरण के आधार पर जो अनेक कालातीत मान्यताएँ स्थगित हो गई थीं, वे पुनः जीवित हो उठी हैं।

भारतीय संस्कृति में धार्मिक ग्रन्थों में बिना कोई छेड़-छाड़ किए कालातीत तत्त्वों को स्थगित करने की परम्परा रही है। इसी पद्धति से एक समग्र भारतीय संस्कृति के विस्तार के लिए अन्य सभी धर्मों के मान्य ग्रन्थों की भी समाज में परस्पर वैमनस्य को फैलाने वाले कालातीत तत्त्वों की मान्यता को स्थगित किया जा सकता है। धर्म-ग्रन्थ केवल ताडन के अधिकार का ही उपदेश नहीं करते, अनेक धर्म-ग्रन्थों में विधर्मी को तलवार की घाट उतार देने का भी विधान है और दुनिया में फैला आतंकवाद इसीका प्रतिफल है। इस आतंकवाद को और धर्मान्तरण की मान्यता को समाप्त करने के लिए धर्म को मानवतावादी बनाया

जाय, यह जरूरी है। इसके लिए हमें "एक विश्व : एक संस्कृति" (पृ० १४८-१७४) में वर्णित उपायों का सहारा लेना पड़ेगा। आज की पूरी दुनिया "परस्परदेवो भव" का सहारा लेकर संभूय समुत्थान का संकल्प ले, तो यह कार्य त्वरित गति से पूरा हो सकता है।

आजकल यह फैशन चल पड़ा है कि आर्यों ने बाहर से आकर इस देश पर कब्जा कर लिया और अपनी धर्म-संस्कृति का यहाँ प्रचार-प्रसार किया। इसी कल्पित उदाहरण के आधार पर ख्रीष्ट्र और इस्लाम धर्म के अनुयायियों को भी इस देश में अपने-अपने धर्मों के प्रचार-प्रसार का अधिकार है कि वे प्राचीन और मध्यकालीन भारत का जो कुछ अच्छा-बुरा है, उसे पूरी तरह से मिटा दें।

इस सम्बन्ध में "भारतीय समाज और संस्कृति" में ही किसी विद्वान् ने बताया है कि ऋग्वेद में आर्यों के अपना मूल स्थान छोड़ने और भारत पर आक्रमण करने का कहीं कोई उल्लेख नहीं है (पृ० १०५)। सिन्धु घाटी में उपलब्ध लिपि को अभी पढ़ा नहीं जा सका है। उसके आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। कोरी कल्पना के आधार पर अपने धार्मिक संकीर्ण विचारों को इस देश पर थोपने का प्रयत्न कभी भी उचित नहीं माना जा सकता। पूरी मानव-जाति का हित किसमें है, इसी आधार पर भारतीय संस्कृति का भविष्य निर्भर रहेगा।

धर्म के स्थान पर संस्कृति को प्रधानता देकर ही ऐसा किया जा सकता है। भारत के पूरे अतीत से जुड़ने पर ही ऐसा हो सकता है। अपने-अपने धर्मों का पालन करते हुए भी यह सब किया जा सकता है। अपने देश के अतीत से जुड़ने को जड़ता मानने वालों की मानसिकता के आधार की खोज हमें करनी होगी। इसके लिए हमें धर्म, धार्मिकता (साम्प्रदायिकता) और धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्दों की सही व्याख्या समाज के सामने प्रस्तुत करनी होगी कि मनुस्मृति में बताये क्षमा आदि दस लक्षणों से युक्त क्रियाकलाप ही धर्म है, मजहब या रिलीजन के नाम से जाना जाने वाला कर्मकाण्ड नहीं। धार्मिकता उस धर्म से जुड़ी है, जिसका उपदेश उसे सम्प्रदाय, अर्थात् गुरु-परम्परा से प्राप्त होता है, मजहब या रिलीजन से जुड़ी किसी संकीर्णता से

नहीं। धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलरिज्म का अर्थ मनुस्मृति प्रोक्त धर्म से विमुख होना नहीं है, किन्तु सभी पारलौकिक कर्तव्यों के निर्वाह में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना है। क्या हम भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्त्वों को विकृत करने वालों की मानसिकता से समाज को सावधान कर सकेंगे? क्या एक अखण्ड भारतीय सामाजिक दृष्टि के निर्माण में समर्थ हो सकेंगे?

हमारी दृष्टि में इसके लिए दुनिया की सबसे पुरानी भाषा संस्कृत का ज्ञान आवश्यक होगा। विदेश विभाग में नियुक्त एक भारतीय राजदूत को भगवद्गीता की कोई जानकारी नहीं थी। बाइबिल के बाद बिना किसी धार्मिक जुनून के सर्वाधिक भाषाओं में अनुवाद इसीका हुआ है। भगवद्गीता और धम्मपद (पालि भाषा का बौद्ध ग्रन्थ) नैतिकता के प्रसार में सर्वाधिक उपयोगी ग्रन्थ हैं। हमारी समझ में भारतीय राजदूतों के साथ सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाओं के सदस्यों के लिए भी इस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होना चाहिए। इसके अभाव में हम अपसंस्कृतियों के प्रभाव को रोकने में न तो कोई सफलता प्राप्त कर सकेंगे और न हीनभावना से मुक्ति ही पा सकेंगे।

आज के प्रगतिशील! विचारक भगवाकरण के नाम पर भारत की एक हजार वर्ष पहिले की सभी मान्यताओं को झुटला देना चाहते हैं। उन सबका लक्ष्य एक ही है कि भारत की सारी प्राचीन मान्यताओं को तिलांजलि दे दी जाय, जिससे भारत पर अपसंस्कृतियों का कब्जा मुकम्मल हो सके। भारतीय संस्कृति पर यह आक्रमण गले में टाई बाँधने वाले बाबुओं, साहबों और अर्थलोलुप व्यापारियों के माध्यम से होगा। होगा क्या हो रहा है। यह आक्रमण उन बुद्धिजीवियों की तरफ से भी हो रहा है, जो उदात्त भारतीय विचारों को दबा देने में ही अपनी सारी कुशलता खर्च कर देते हैं। वस्तुतः होना यह चाहिए था कि दसवीं शताब्दी के अन्त और ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विकसित हुए कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन के माध्यम से और कर्णाटक में प्रचलित वीरशैव धर्म-दर्शन के आधार पर भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा की जाय। हिन्दुत्ववादी संगठन क्या इस कार्य को कर सकते हैं?

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दु परिषद्, शिव सेना, बजरंग दल जैसे अनेक संगठन हिन्दु-हितों की रक्षा के लिए अपने को प्रतिबद्ध मानते हैं। हमने इनकी तुलना खेत की रक्षा के लिए लगाई गई बाड़ (कण्टकावरण) से की है, किन्तु क्या वे ऐसा कर रहे हैं? हमारी समझ में तो राजनीतिक दलों जैसी ही स्थिति इनकी भी है। हिन्दु-हितों की रक्षा ये सब अपनी-अपनी दृष्टि से करना चाहते हैं। प्रत्येक संगठन का नेता स्वयं अपने को ही सही मानता है। जनतन्त्र के लिए यह मनोवृत्ति घातक है। निम्न श्लोक को हमने अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद् व्यक्तमवसीदति॥

[जहाँ ढेर सारे नेता हैं, सभी अपने को बढ़-चढ़ कर बुद्धिमान् मानते हैं और सभी महत्त्व के पदों पर प्रतिष्ठित होना चाहते हैं, ऐसा समुदाय अवश्य ही नष्ट हो जाता है]।

भारतीय राजनीतिज्ञों की इसी मानसिकता को हम सर्वत्र देख रहे हैं। धार्मिक संगठन भी इस तुच्छ मनोवृत्ति से ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। एक हजार वर्ष की पराधीनता से जकड़ा यह मानव-समुदाय ऐसा कर भी नहीं सकता। जाने-अनजाने जयचन्दी मनोवृत्ति का शिकार यह अवश्य हो सकता है।

हिन्दु शब्द का प्रयोग एक हजार वर्ष पहिले के भारतीय साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता। हमारे ऊपर यह शब्द जबर्दस्ती लादा गया है। भारत के निवासियों के लिए हिन्दु शब्द के प्रयोग के जितने भी प्राचीन उदाहरण मिलते हैं, वे सब बाह्य साक्ष्यों पर आधारित हैं, अर्थात् उनका प्रयोग बाहरी लेखकों ने किया है। यह हमें देखना होगा कि इस शब्द को भारतीय लेखकों ने और जनता ने भी कब स्वीकार किया। यों भारतीय प्रजा के लिए इस शब्द के प्रयोग को स्वामी विवेकानन्द, डॉ० सम्पूर्णानन्द जैसे चिन्तक उचित नहीं मानते। इस विवाद में हम अधिक उलझना नहीं चाहते, किन्तु एक न एक दिन इस आरोपित शब्द से हमें अवश्य छुटकारा पाना होगा।

इस शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो सिन्धु नदी के इस पार के सभी निवासी हिन्दु हैं। लेकिन आज स्थिति यह है कि सिक्ख भी अपने को हिन्दु नहीं मानते। जैनों और बौद्धों को तो इससे बहुत पहिले ही अलग कर दिया गया है। क्या हिन्दुत्ववादी भारत में बसने वाली सारी प्रजा को इस शब्द से संबोधित करने-कराने को तैयार हैं? हमारी समझ में तो यह आता है कि भारतीय संस्कृति को आधार मान कर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को मान्यता देते हुए धर्म, संप्रदाय, जाति आदि के भेदों से ऊपर उठ कर यहाँ का प्रत्येक निवासी अपने को तहेदिल से भारतीय माने, यही उचित है। तभी धर्मों और संस्कृतियों में परस्पर सामंजस्य की संभावना बन सकती है।

भारत के वर्तमान प्रधानमन्त्री कश्मीर की जनता के सामने जिस भाषा में बोलते हैं, उसका व्यवहार वे विदेश में न सही, पूरे भारत में न सही, कम से कम हिन्दीभाषी क्षेत्र में कर इस संभावना को बनाने में तीव्रता ला सकते हैं। इसके लिए भारत में संघीय संविधान लागू हो, यह भी अपेक्षित है।



राष्ट्र की संघबद्धता

भारत के संविधान पर ब्रिटिश संविधान की गहरी छाप है। ब्रिटेन छोटा-सा देश है। ब्रिटिश संविधान को सरलता से उस पर लागू किया जा सकता है, किन्तु वही शासनपद्धति भारत पर लाद कर क्या हम यूरोप की तरह भारत को भी अनेक टुकड़ों में नहीं बांट देंगे? इंग्लैण्ड के सामने धर्मगत, जातिगत, भाषागत और सभ्यता-संस्कृतिगत कोई समस्या नहीं है। इस मामले में हम भारत की तुलना अमेरिका और यूरोप के अन्य देशों से कर सकते हैं। अमेरिका ने संघबद्धता का एक रास्ता निकाला और अब यूरोप के कई देशों ने भी संघबद्ध होने का संकल्प लिया है। इंग्लैण्ड का संविधान हमें यूरोप की तरह अनेक टुकड़ों में बाँट देगा। हमें भारत के दृष्टान्त से यूरोप को संघबद्ध करना है या भारत को यूरोप की तरह खण्डित कर देना है, इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना है। ब्रिटिश प्रशासन वर्षों से देश को यूरोप की तरह टुकड़ों में बाँट देने में लगा हुआ है। लगा ही नहीं है, इस देश के उसने तीन टुकड़े कर भी दिए हैं।

कश्मीर और भोट देश (तिब्बत) की समस्या को उसने भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरु की सहायता से खड़ा किया है। तंजूर-कंजूर के नाम से भोट-भूमि में हुए विशाल अनुवाद साहित्य को आप देखिए। इस पर श्रीलंका (सीलोन) में विकसित बौद्ध पालि-साहित्य का नहीं, भारत के पूर्व-उत्तर भाग में प्रादुर्भूत मन्त्रयान-साहित्य का प्रभाव है, जो भारतीय आगमिक और पौराणिक संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। कश्मीर में विकसित शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन से हम पर्याप्त परिचित हो चुके हैं। इस साहित्य का उस दृष्टि से तुलनात्मक अनुशीलन अपेक्षित है, जिसकी रूपरेखा म० म० पद्मविभूषण पं० गोपीनाथ कविराज, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ० चिन्ताहरण चक्रवर्ती जैसे भारतीय मनीषियों ने और हालैण्ड के महान् भारत-विद्याविद् डॉ० जे० गोण्डा ने तैयार की है। सारनाथ स्थित तिब्बती शोध संस्थान का भी इस कार्य में महनीय सहयोग है। इनकी सहायता से कश्मीर और तिब्बत की विषम समस्या का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

ब्रिटिश कुटिलनीति इतना भर करके रुक नहीं गई थी। उत्तर-पूर्व भारत में कभी महात्मा गांधी के प्रिय भजन में चर्चित वैष्णव जन का पर्याप्त प्रभाव था। भारतीय मनीषियों ने "यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः" इस मानवीय मानसिकता के आधार पर लौकिक धर्म के रूप में आगमिक धर्म का आविष्कार किया था। समस्त भारत की वनजातियाँ और जनजातियाँ इनमें प्रदर्शित धार्मिक विधियों का अपनी-अपनी पद्धति से बिना किसी दबाव के स्वेच्छा से अनुष्ठान करती थीं। आज 'हिन्दु' नामधारी संघटनों ने इसकी उपेक्षा कर दी है और वहाँ का मानव-समाज धर्मान्तरण की घिनौनी प्रवृत्ति का शिकार ही नहीं होता जा रहा है, राष्ट्रविरोधी गतिविधियों के भी ये केन्द्र बनते जा रहे हैं। तन्त्रागमशास्त्र की सामाजिक दृष्टि के सहारे इनका उद्बोधन किया जा सकता है, वर्णाश्रम-व्यवस्था इन पर विपरीत प्रभाव छोड़ सकती है। मध्यकालीन पुराण-साहित्य में और तन्त्रागम-साहित्य में निर्दिष्ट अतिवर्णाश्रमी व्यवस्था ही इनको समाज में संमानजनक स्थान दिला सकती है।

उस ब्रिटिश कुटिलता ने उत्तर-पूर्व भारत और देश में सर्वत्र बिखरे हुए जनमानस को ही मतिभ्रम का शिकार नहीं बनाया, दक्षिण में तमिल भाषा-साहित्य और संस्कृति के वाहक प्रबुद्ध जनों को भी दिग्भ्रान्त कर दिया है। आर्य-द्रविड़ विवाद की निःसारता के विषय में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं। उसको दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। योगसूत्रकार पतंजलि ने वन्ध्यासुत, आकाशकुसुम जैसी वस्तुओं की कल्पना कर लेने वाली विकल्प-वृत्ति का वर्णन किया है। आर्य-द्रविड़ विवाद को भी हम इसी विकल्प वृत्ति के उदाहरण के रूप में देख सकते हैं। मृगतृष्णा की कोई स्थिति नहीं होती, किन्तु मृग मरीचिका को जल मान कर इससे अपनी प्यास तो नहीं बुझा पाता, अपनी जान से हाथ अवश्य धो बैठता है। संस्कृत भाषा को आर्यों की और तमिल भाषा को द्रविड़ों की देन माना जाता है। हम देखते हैं कि इस पूरे विशाल साहित्य में कहीं भी इसकी कोई चर्चा नहीं है कि द्रविड़ यहाँ के मूल निवासी हैं और आर्य बाहर से आये हैं। इस मिथ्या अवधारणा का भी समय रहते उन्मूलन होना चाहिए। इस तरह के कल्पना-जाल से ऊपर उठकर ही यह देश एकताबद्ध रह सकता है।

प्राच्यविद्या और पुरातत्त्व के क्षेत्र में दिए गए ब्रिटिश विद्वानों के अवदान को भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु इतना हमें अवश्य स्मरण रखना है कि यूरोप के अन्य देशों के विद्वानों का भी इस शुभ कार्य में महनीय सहयोग रहा है। इस प्रसंग में हम जर्मनी, फ्रांस और हालैण्ड की विशेष रूप से चर्चा कर सकते हैं। हालैण्ड के विद्वान् भारतीय आस्था से सर्वाधिक नजदीकीपन रखते हैं। उसका कारण यह है कि वहाँ भारतीय तन्त्रागमशास्त्र पर विशेष रूप से कार्य हुआ है और यह शास्त्र पूरे भारतीय वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करता है। वैष्णव एवं शैव आगमों के महान् विद्वान् डॉ० जे० गोण्डा और उनके ग्रन्थ ''चेंज एण्ड कन्टीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन'' को इस प्रसंग में प्रस्तुत किया जा सकता है। रिलीजन शब्द का एकवचन यहाँ विशेष रूप से अवधेय है। भारतीय संस्कृति और उसके प्राण सनातन धर्म का इससे बोध होता है। इस विषय में हम ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही बहुत कुछ लिख चुके हैं।

इसके लिए यह आवश्यक है कि इस तरह की अनेक समस्याओं से ग्रस्त इस देश में संघीय शासन-व्यवस्था लागू की जाय। प्राचीन काल से लेकर आज तक संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन पूरे देश में प्रचलित रहा है, किन्तु आज यह भाषा भी प्रादेशिकता रूपी पिशाची से कैसे ग्रस्त हो चुकी है, इसकी चर्चा हमने अपनी एक टिप्पणी— ''प्रादेशिकतापिशाचीग्रस्ता प्राच्यवाणी'' में की है। पूरा देश इस अवसाद से न घिर जाय, इससे पहले ही हमे सब तरह की प्रादेशिकता से मुक्त होना पड़ेगा। अन्यथा वे क्षेत्रीय राजनीतिक दल, जिनको चुनाव आयोग की मान्यता भी मिल गई है, अपनी संख्या में वृद्धि करते जायेंगे और एक दिन अखिल भारतीय दृष्टि प्रसुप्त-सी हो जायगी। इस परिस्थिति में यूरोप के जैसे भारत भी अनेक टुकड़ों में बंट जायेगा। क्या यह हमें अभीष्ट है?

हालैण्ड की विद्यानगरी लीडेन में विश्व संस्कृत परिषद् का सातवाँ अधिवेशन २३-२९ अगस्त, १९८७ में संपन्न हुआ था। तन्त्रशास्त्र से संबद्ध एक कार्यशाला भी वहाँ आयोजित हुई थी। तन्त्रशास्त्र की सामयिक उपयोगिता को बताते हुए हमने अपने संस्कृत निबन्ध में यह सुझाव दिया था

कि राज्य, राष्ट्र, भाषा, जाति, धर्म आदि के भेदों में विभक्त यह मानव-समुदाय कैसे संघबद्ध हो सकता है। वहाँ हमने देखा कि हालैण्ड के बीसा से उसके पास के अन्य देश बेलजियम और लग्जमवर्ग की भी यात्रा की जा सकती है। ऐसी व्यवस्था अधिकाधिक देशों में विकसित होने पर इनका आपस का भेद कम हो सकता है और इस तरह से संयुक्त राष्ट्र-संघ की भावना के अनुरूप राष्ट्रों के परस्पर के मिलन के क्षेत्र को बढ़ाया जा सकता है। हमने कामना की थी कि यूरोप से इस प्रक्रिया को चालू किया जा सकता है। अब हम देखते हैं कि यूरोपवासियों ने इस ओर अपने डग भरे हैं। ब्रिटिशजन भी इस शुभ कार्य में अपना सहयोग कर ही रहे हैं। इस प्रसंग में हम भारतीयों को यह सोचना है कि क्या पूरे यूरोप को संघबद्ध करने में हमारी कोई उपयोगिता हो सकती है? या ब्रिटिश कुटिलनीति हमको छिन्न-भिन्न कर देगी। भारत की ऊपर वर्णित सारी समस्याएँ उसी की ही देन हैं। उनसे ऊपर उठ कर ही हम यूरोप की एकता के लिए उदाहरण बन सकते हैं, अन्यथा नहीं। भारत में अपसंस्कृति के प्रचारकों और प्रसारकों की गतिविधियों की अभी हमने चर्चा की है। इनसे मुक्त भारतीय समाज ही ऐसा करने में समर्थ हो सकता है। क्या ऐसा संभव हो सकेगा? आज की परिस्थिति में तो ऐसा हो नहीं सकता। अपसंस्कृतियों का पलड़ा भारी है।

कम्युनिज्म से प्रभावित एक भारतीय बुद्धिजीवी का आक्षेप है कि भारतीय जनता पार्टी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का पुछल्ला है, वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सोचने में असमर्थ है। इसी लहजे में जबाब दिया जा सकता है कि उनके जैसे बुद्धिजीवी भारतीय संस्कृति के उदारतम स्वरूप से या तो परिचित ही नहीं हैं अथवा अपसंस्कृतियों से प्रभावित हो वे जान-बूझकर भगवाकरण के नाम से समस्त भारतीय सभ्यता और संस्कृति को बर्बाद कर देना चाहते हैं। इन जैसे लोगों के प्रभाव में आकर भारत का एकमात्र राष्ट्रीय दल स्वतन्त्रता-काल के अपने पहले वाले स्वरूप को भूलता जा रहा है। भारत का मुसलमान कभी आतंकवादी नहीं हो सकता, इस मिथ्या धारणा को पुष्ट करते समय वे कानपुर, कलकत्ता, मुरादाबाद आदि उत्तरभारत के भागों में तथा हैदराबाद, कोयम्बटूर आदि दक्षिण के भागों में सिमी जैसे

संगठनों के द्वारा की जा रही इनकी करतूतों से आँख मूँद लेना चाहते हैं। कम्युनिज्म तो परस्पर विद्वेष फैला कर ही अपने लिए प्राणवायु बटोरता है। भारतीय इतिहास के लेखन के प्रसंग में यह पूरी तरह से मुस्लिमपरस्त ही नहीं, भारतीयता का विरोधी भी बन गया है।

आज इन दोनों दृष्टियों से ऊपर उठ कर राष्ट्रनिर्माण की आवश्यकता है। भारत तभी राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति आदि के भेदों से ऊपर उठ कर स्वयं तो संघबद्ध हो ही सकता है, वह यूरोप जैसे देशों को संघबद्ध होने का रास्ता भी दिखा सकता है। यूरोप ही नहीं, वह समान धर्म, प्रकृति आदि के सहारे अन्यत्र बसे मानव-समुदाय को भी एकता के सूत्र में पिरो सकता है। ''एक विश्व : एक संस्कृति'' में हमने सामूहिक नेतृत्व और संभूय समुत्थान की प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न किया है। इनके सहारे राजनीतिक दलों में सामंजस्य स्थापित कर दलगत राजनीति से ऊपर उठा जा सकता है, इनमें फैलती जा रही परस्पर की शत्रुभावना पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है और संघीय संविधान के माध्यम से संचालित राज्यव्यवस्था के आधार पर न केवल इस देश को छिन्न-भिन्न होने से बचाया जा सकता है, बल्कि संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी संस्था को भी सुव्यवस्थित रूप दिया जा सकता है। भारत के लिए प्रचलित शासनव्यवस्था के स्थान पर अमेरिका में प्रचलित संघीय शासन-व्यवस्था अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी। इसके लिए यह भी आवश्यक होगा कि भाषा के आधार पर नहीं, शासन के लिए सुविधाजनक, आकार और जनसंख्या की दृष्टि से संतुलित भौतिक आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जाय। आज असम को कई टुकड़ों में बाँट दिया गया है और उससे अनेक विकट समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। उनका समाधान तभी संभव हो सकेगा।



समालोचना

कालजयी सनातन धर्म

ग्रन्थ— कालजयी सनातन धर्म

लेखक— स्वामी संवित् सोमगिरि

प्रकाशक— मानव प्रबोधन प्रन्यास, शिवमठ, बीकानेर।

आकार— डबल डिमाई, पृष्ठ संख्या ३०४, प्रथम संस्करण, सन् २००४

मूल्य— १५०/- रु०

जैसा कि अपने दि० १०-२-२००५ के पत्र में निवेदन कर चुका हूँ, इस पुस्तक के शीर्षक से मैं बहुत प्रभावित हूँ। यहाँ कालजयी सनातन धर्म की विशेषता पर पुष्कल विचार प्रस्तुत किये गये हैं। महात्मा गांधी के अनुयायी काका कालेलकर ने लम्बी भारतीय परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसको हमने 'सनातन धर्म' नाम दिया और विदेशियों ने 'हिन्दु धर्म'। विदेशियों के द्वारा दिया गया नाम ही आज सर्वत्र प्रचलित हो गया है और हम भी ''गर्व से कहो हम हिन्दु हैं'' का नारा लगाने लगे हैं। प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव भारतीय संस्कृति की चर्चा के प्रसंग में कहते हैं कि इस पूरी संस्कृति को 'सनातन धर्म' के नाम से जाना जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द और मनीषिप्रवर डॉ० सम्पूर्णानन्द जैसे विचारकों की भी इसमें स्पष्ट सहमति है। यह कहा जा सकता है कि जब तक हम सम्पूर्ण भारतीयता के लिए कोई सर्वमान्य शब्द स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक 'हिन्दु धर्म' के स्थान पर 'सनातन धर्म' शब्द को स्वीकार कर लेना चाहिए। हमें हिन्दूकरण के स्थान पर समग्र प्रजा को सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय बनाना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सनातन धर्म की वैदिकता पर विशेष जोर दिया गया है, किन्तु हम यह देखते हैं कि इसमें भारत में विकसित सभी धर्मों के उदात्त तत्त्वों का समावेश हुआ है। स्थिरता और निरन्तरता, गतिशीलता के साथ

सामयिक परिवर्तनों की स्वीकृति संस्कृति का सबसे बड़ा गुण है। भारतीय संस्कृति में इसको पूरी मान्यता मिली है। वैदिक उदात्त तत्त्वों के साथ भारत में विकसित सभी धर्मों के उत्कृष्ट अवदानों को भी सनातन धर्म ने स्वीकार किया है, इसको कैसे नकारा जा सकता है? धर्मतत्त्व की व्याख्या के प्रसंग में तथा अन्यत्र भी यहाँ पुराणों और आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया ही गया है। फलतः 'कालजयी' यह विशेषण ही सनातन धर्म की इस स्थिति को पूरी अभिव्यक्ति दे पाता है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह भी है कि यहाँ अनेक जटिल विषयों को उदाहरणों के द्वारा सामान्य जनता के लिए भी बोधगम्य बना दिया गया है। पर्यावरण के भौतिक और आध्यात्मिक, उभयविध स्वरूपों का परिचय यहाँ दिया गया है। इस प्रसंग में उस वैदिक मान्यता की चर्चा की जा सकती है कि वैदिक कर्मकाण्ड में यज्ञीय वृक्ष की अपने आप सूख गई शाखाओं को ही समिधा के रूप में ग्रहण करने का विधान है। वैदिक सनातन धर्म की अखण्ड दृष्टि, संस्कृत भाषा, संप्रदाय, सांप्रदायिकता, गुरुतत्त्व, नादसन्तति जैसे विषयों पर यहाँ मननीय विचार प्रस्तुत किये गये हैं। धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्दों की समीक्षा भी आवश्यकता के अनुरूप की गई है। धर्म और संस्कृति के अन्तर को समझाने का भी यहाँ अच्छा प्रयास किया गया है। भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझाते समय यह भी बताया गया है कि पूरे राष्ट्र को समग्र भारतीय संस्कृति को अपनाने का प्रयास करना चाहिए।

आत्मविश्वास और अहंकार में कोई अन्तर है या नहीं? इस प्रश्न को उठाकर उसका समाधान भी यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है, विशेष कर राजनीति के क्षेत्र में। इन दोनों शब्दों में विद्यमान सूक्ष्म अन्तर को समझ लेना बहुत आवश्यक है। महर्षि वसिष्ठ और राजर्षि विश्वामित्र के कथानक से इसका सही स्वरूप तब समझ में आता है, जब विश्वामित्र का अहंकार महर्षि वसिष्ठ के स्वाभिमान के आगे नतमस्तक हो जाता है। आज राजनेताओं के अहंकार को भी नियन्त्रित करने की आवश्यकता है।

मनुस्मृति में त्रिविध ऋण प्रदर्शित हैं और गृहस्थ के लिए चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जलस्थान पर होने वाली हिंसा के दोष से छुटकारा पाने के लिए प्रतिदिन पंचविध यज्ञों के अनुष्ठान का विधान है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इन विषयों की चर्चा है, किन्तु यहाँ तीन ऋणों के स्थान पर पंचविध ऋणों की और इन ऋणों से उत्रृण होने के लिए पंचविध यज्ञों के अनुष्ठान की विस्तृत विधि बताई गई है। अन्य सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही आश्रित हैं, इस प्रसंग को समझाते हुए महाभारत में वर्णित नेवले के उपाख्यान को भी प्रस्तुत किया गया है। महाभारत में ही तुलाधार वैश्य, तपस्वी ब्राह्मण, गृहस्थ नारी और धर्मव्याध आदि के उपाख्यानों के माध्यम से गृहस्थाश्रम के महत्त्व को दिखाया गया है। आज महाभारत को घर में रखने का और भगवद्गीता के स्वाध्याय का गृहस्थ के लिए निषेध कहाँ तक उचित है, इस पर हमें विचार करना होगा।

"चत्वारि वाक्" (१. १६४.४५) ऋग्वेद के इस मन्त्र में चार वाणियों की चर्चा हुई है। यहाँ भी इनकी चर्चा अलग-अलग स्थलों पर मिलती है। इसी तरह अनुत्तर, आनन्द आदि स्वरों की, दीक्षा संस्कार की, ईश्वर के सृष्टि-स्थिति-संहार-निग्रह-अनुग्रह नामक पंचकृत्यों की, परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी नामक चार वाणियों की, मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा नामक चार भावनाओं की, चित्त की लीनावस्था जैसे विषयों की भी विशद चर्चा केवल शैवागमों में ही नहीं, तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं और योगशास्त्र के ग्रन्थों में भी मिलती है। चित्त की चतुर्विध अवस्थाओं में परिगणित लीनावस्था का विवेचन देवीकालोत्तरागम की टीका (पृ. ३४) में उद्धृत निःश्वासकारिका में विवेचित है।

यह सही है कि त्रयी (वेदशास्त्र) में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विवेचित हैं, तो भी "त्रयी सांख्यं योगः" महिम्नस्तव के इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या में महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती ने 'त्रयी' शब्द से अष्टादश विद्याओं का ग्रहण किया है। यहाँ त्रयी के अतिरिक्त सांख्य, योग, पशुपति (शैव) मत और वैष्णव (पांचरात्र) मत को प्रमाण माना गया है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में तथा अनेक पुराणों में भी

कृतान्तपंचक के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। इन भारतीय शास्त्रों में चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों की मान्यता अपनी-अपनी पद्धति से स्वीकृत है। प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय आध्यात्मिकता को उजागर करने वाले सन्तों की वाणियों का भी बहुत आदर के साथ उल्लेख हुआ है। हम समझते हैं कि वैदिक सनातन धर्म इन सबको मान्यता देता है।

सांख्यदर्शन में अहंकार से एकादश इन्द्रियों (१.मन, ५.ज्ञानेन्द्रिय, ५.कर्मेन्द्रिय) तथा पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गई है। यहाँ (पृ. १५९-१६०) इसका विपरीत क्रम दिया गया है। इसमें प्रमाण अपेक्षित है। ''सद्योजातं प्रपद्यामि'' इत्यादि पंचब्रह्म मन्त्रों से भगवान् शिव का शरीर बना है, इस विषय की चर्चा आगमों में मिलती है। इसी विग्रह से पाँच महाभूत, पंचतन्मात्रा, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय आदि के क्रम से ३५ तत्त्वों का विकास होता है और भगवान् शिव ३६वें तत्त्व माने गये हैं। इस क्रम को स्वीकार करने पर उक्त ग्रन्थ की संगति बैठ सकती है। इसी तरह पृ. २८४ पर उद्धृत श्लोक महाकवि कालिदास के किस ग्रन्थ में है, इसकी भी सूचना अपेक्षित है। यहाँ (पृ. २२ एवं ३१) सृष्टयोन्मुखता शब्द प्रयुक्त है। इसके स्थान पर सृष्ट्युन्मुखता शब्द होना चाहिए।

सनातन धर्म सचमुच कालजयी है। आज इसको मृत्यु के मुँख में ढकेल देने की चौतरफा तैयारी हो रही है। व्याकरण महाभाष्यकार मुनि पतंजलि के समय में वेद की ११३१ शाखाएँ विद्यमान थीं। अब इनमें से अधिकांश विस्मृत हो चुकी हैं। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा दक्षिणभारत तक सीमित हो चुकी है। ऐसे भी आचार्य हुए हैं, जो परोपकार को धर्म नहीं मानते। आश्रमों में गृहस्थ और संन्यास, पुरुषार्थों में अर्थ और काम तथा वर्णों में श्रेष्ठता और कनिष्ठता का अभिमान ही वस्तुतः बचे रह गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. २२०) में ही कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर का यह वचन उद्धृत है कि हिन्दु समाज से बाहर जाने के तो अनेक रास्ते हैं, अन्दर आने का एक भी रास्ता नहीं है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद की गलत व्याख्या के आधार पर इस प्रक्रिया को बढ़ावा ही दिया जा रहा है। जन्मदिन (बर्थ डे) के विधिविधान में तो विकृति आ ही गई है, अब श्राद्धतिथि में भी आंग्ल दिनांक

प्रवेश पाने लगा है। सनातन धर्म को कालजयी बनाये रखने के लिए इन सबका प्रतीकार हमें करना होगा।

जैन आचार्यों ने ब्राह्मणवाद की कहीं चर्चा नहीं की। वे वैदिक शब्द का ही प्रयोग करते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो बौद्ध धर्म और जैन धर्म के भी महनीय ग्रन्थों की रचना ब्राह्मणों ने ही की है। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति विप्रभिक्षु के नाम से उद्धृत हुए हैं। इस स्थिति को आज भी देखा जा सकता है। मनुस्मृति के बाद भारत में अन्य अनेक स्मृतियों का निर्माण हो चुका है। इस स्थिति में ब्राह्मणवाद और मनुवाद की चर्चा पूरी तरह से निरर्थक है। तो भी यह चल रही है। हम सोये हुए हैं।

मनुस्मृति के दो वचनों को हम यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं—

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥
यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

क्या इस तरह के वचन अन्य किसी धर्म-ग्रन्थ में मिलेंगे? इस तरह के मनुस्मृति के अन्य भी अनेक महनीय वचनों का संग्रह हमने अपने ग्रन्थ "निगमागम संस्कृति" के विभिन्न पृष्ठों पर किया है। कुटिल जनों के द्वारा प्रचारित 'भगवाकरण' की मिथ्या अवधारणा ने हमारी आँखों पर पट्टी बाँध दी है।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" इस दृष्टि के साथ सब कुछ शिवमय है, इस सिद्धान्त का भी यहाँ प्रतिपादन हुआ है। भारतीय संस्कृति में वेदों के साथ आगम-तन्त्रशास्त्र को भी मान्यता मिली है। त्रयी के प्रसंग में अभी उनकी चर्चा हो चुकी है। इस प्रसंग में इस श्लोक को देखिए—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिगोचरः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलौ वै तान्त्रिकी श्रुतिः॥

इसके अनुसार तो कलियुग में तान्त्रिकी श्रुति की ही वरीयता मानी गई है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में कलिवर्ज्य प्रकरण मिलता है। तदनुसार कलियुग में अनेक प्राचीन मान्यताएँ स्थगित कर दी गई हैं। अन्य धर्मों के कालातीत

विचारों को भी इस पद्धति से अव्यावहारिक घोषित किया जा सकता है। तभी एक समग्र भारतीयता की स्थापना हो सकेगी। इसके लिए हमें प्रयत्नशील होना पड़ेगा। सूफी और ईसाई सन्तों के उपदेश इस विषय में हमारी सहायता कर सकते हैं। वाल्मीकि रामायण में एक वचन मिलता है— ''यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः''। वनवासी मर्यादापुरुषोत्तम राम अपने पिता का श्राद्ध करते समय उन्हें कन्द-मूल समर्पित करते हैं। वनवासियों और जनजातियों की समस्या का समाधान हम इसी पद्धति से कर सकते हैं। एक ही जन्म में मुक्ति का आगमिक सिद्धान्त सेमेटिक धर्मों में भी नई दृष्टि का संचार कर सकता है। योगवासिष्ठ का पुरुषकारवाद भाग्यवाद की निर्भरता को कम कर सकता है, जिसकी चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. २५४) में की गई है। सेवा की भावना को हम परोपकार और निष्काम कर्मयोग से समरस कर सकते हैं और गीता के साम्ययोग से आधुनिक साम्यवाद को। प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ. ४५) में उद्धृत दो वचन हमारी सहायता कर सकते हैं।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

कालजयी सनातन धर्म पर आरोपित सभी दोषों का समाधान ११वीं शताब्दी के महान् कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने उसी समय कर दिया था। विस्मृति के गर्त में पहुँचे उन विचारों को पुनरुज्जीवित करने को आवश्यकता है। तभी हम हीनभावना से मुक्त होकर अपसंस्कृतियों के आक्रमण से पूरे आत्मविश्वास के साथ अपने को बचा सकेंगे।



टिप्पणियाँ

(निम्न ग्रन्थों के आधार पर)

आगम और तन्त्रशास्त्र (**आगम**)—निगमागम संस्कृति (**निगमा**)—भारतीय संस्कृति के नये आयाम (**भार०**)—भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप (**समग्र**)—एक विश्व : एक संस्कृति (**एक०**)—सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (**सांस्कृ०**)—सिद्धान्तप्रकाशिका (**सि० प्र०**)—श्रीगुरुगीता (**गुरु**)—पारमेश्वरागम (**पार०**)—सिद्धान्तसारावलि (**सि० सा०**)—उपोद्घात (**उ०**)—टिप्पणी (**टि०**)—

अकार— प्रकाश, परमशिव, अनुत्तर, आद्य वर्ण (अ वर्ण) अ इति ब्रह्म, अकारो वै सर्वा वाक्, अकार से समस्त शास्त्रों की उत्पत्ति। सि० प्र०, १, सि० सा०, ९४-९५, १०१-१०२

अखण्ड महायोग— आगम, ५१-५४, भार०, १०८-१११, एक०, १६८-१७१

अखण्ड संस्कृति— भारतीय एवं विश्व संस्कृति का विश्लेषण। भार० ६, १०५-१०८, १५२-१५५; एक०, १७१ संस्कृति शब्द भी देखिए, अपसंस्कृति, गंगा-जमुनी., धर्म और संस्कृति., नव संस्कृति., नेहरु., पाश्चात्य., भारतीय., विश्व० भी।

अग्नि-समाराधन— समग्र०, ११-२६; सांस्कृ० ११-१४; सि० सा० १३७-१४७; आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं पर वैदिक कर्मकाण्ड के प्रभाव का विश्लेषण।

अंक विज्ञान— हिन्दसा के नाम से प्रसिद्ध अंक लेखन-पद्धति का समस्त विश्व में प्रसार। प्रथम दशक, द्वितीय दशक के स्थान पर साठ का दशक, सत्तर का दशक के रूप में अब भारत में भी इसके रूप में

उदारदृष्टि— समग्र०, अनेक पृष्ठ; एक० १२-१३, ६६, ९३, ९८; सांस्कृ० ३६, १४०, १४२

उपनिषद्— सांस्कृ० ११५-११७

उपपत्ति— तर्क शब्द भी देखिए। भार० १७३

उपसंहार— भार०, १६५-१८०; एक०, १७५-१९०; सांस्कृ०, ११९-१२१, १३६-१३९

उपासना— बाह्य और आन्तर उपासना के साथ कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान का विवेचन। निगमा०, ७७; सांस्कृ० ६३, ८२; सि० प्र० ४९

ऊह (तर्क)— भार०, पृ० ५३

ऋषि-मुनि— ऋषियों और मुनियों की परम्परा का विश्लेषण। भार०, ११९, १४६, १४७, १६७; समग्र०, १५९-१६०; एक०, २, ४५, ६४, १८२; सांस्कृ०, २१, १३८

एकता परिषद्— समग्र०, ८३-८४

एक राष्ट्रीयता— आगम०, पृ० १५६-१६६; निगमा०, २४६-२५०; भार०, १५५-१५८; समग्र०, ८५, ११७, १३०; एक० ८१-८४; सांस्कृ०, ११२; एक संस्कृति और एक भाषा का प्रचार आवश्यक है।

एक लिंग— शब्द के अर्थ और स्थान का विवेचन। निगमा०, २८७; सांस्कृ० ३६, १२९

कबीरदास— सन्त कबीरदास के विचारों पर आगम-तन्त्रशास्त्र के प्रभाव का विश्लेषण। निगमा०, ४९-५४; भार०, ७५-७८; समग्र०, ८२, ९१, १२०; एक०, १४१-१४३; सांस्कृ०, १७, १४२

कम्युनिज्म— कम्युनिस्टों की भारतीय इतिहास, धर्म और संस्कृति को विकृत करने की प्रवृत्तियों का

९८, १३६-१३७; एक०, ८८-९२, १४३-१४७; सांस्कृ०, ६५, ७८, १२६, १४१

तन्त्रागमीय दर्शन— एक०, १२२-१२५

तन्त्रागमीय वाङ्मय— एक०, १२६-१३५

तन्त्रालोक— उपोद्घात ग्रन्थ की समीक्षा। निगमा०, ९२-१०२

तर्क— षडंग योग का मुख्य घटक। उपपत्ति, ऊह जैसे पर्याय शब्द। भार० अनेक पृष्ठ; समग्र०, ७३, १५९; एक०, ५८, १२३, १८४; सांस्कृ०, ५८, ६३, ८४

तान्त्रिक शोध— समग्र०, ७९-९२

तान्त्रिक वाङ्मय— साहित्य, संस्कृति और कर्मकाण्ड का परिचय। आगम०, २७-३४; भार०, विविध पृष्ठ; एक०, १२६, १२९; सांस्कृ०, ६२, ६८

तिथि परिवर्तन— भारतीय पद्धति से सूर्योदय के साथ तिथि और पाश्चात्य पद्धति से अर्धरात्रि से तारीख बदलती है।

तुलाधार— महाभारत में ऋषि जाजलि की अपेक्षा काशी के व्यापारी तुलाधार की विशिष्टता प्रतिपादित। भार०, ७०

तुष्टीकरण— वर्तमान राजनीति का यह निकृष्ट उपादान है। भार०, ९३-९४, १६९; सांस्कृ०, २७

तैजस— सांख्यकारिका में राजस अहंकार का तथा शैव शास्त्रों में सात्त्विक अहंकार का वाचक है। महाभारत में भी सात्त्विक पक्ष को मान्यता मिली है। निगमा०, १००; सि० सा०, ३४, ६५

त्रिप्रत्यय— शैव-शाक्त आगमों में ज्ञान के तीन स्त्रोतों की चर्चा है। बौद्ध तन्त्र इनकी संख्या चार मानते हैं।

नेहरु-संस्कृति— निगमा०, २४०-२४१, २४६-२५२, समग्र०, १०१-१०६, एक०, ७०

नैतिकता— धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप में इसका समावेश किया जा सकता है। समग्र०, १८१-१८२; एक०, ४९-५१, १११

न्यास— वैष्णव वाङ्मय में शरणागति के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। ''देवो भूत्वा देवं यजेत्'' इस देवभाव की निष्पत्ति के लिए भी इसका विधान है। सांस्कृ०, १७; सि० सा० उ०, ७५-७७; सि० सा०, विविध पृष्ठ।

पक्ष-विपक्ष— भारत में भाई-चारे के स्थान पर इनमें शत्रुमित्र-भाव का विकास हो रहा है। समग्र०, १५४; एक०, २७, ११२

पंचायतन पूजा— निगमा०, २६३; भार०, ४१; समग्र०, १३२, १३६, १५९; एक०, अनेक पृष्ठ; सांस्कृ०, ९५, ११९, १३३

पत्रकार— राष्ट्र के चतुर्थ स्तंभ की मानसिकता का विवेचन। समग्र०, १५७-१९१; एक०, २३, ३४, ४४; सांस्कृ०, २६, ३४

परतत्त्व— विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन। निगमा०, ४७; एक०, १५२; सांस्कृ०, ८५, ८७

परतन्त्रता— देश परतन्त्र कब हुआ? समग्र०, १०

परमाणु विस्फोट— पूरे विश्व के विरोध के रहते परमाणु-विस्फोट किया गया, यही दृढ़ता भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए अपेक्षित है। एक०, १८९

परस्पर कलह— समग्र०, १५४-१५७

परस्परदेवो भव— भार०, ९१-१०५; समग्र०, ८०, १४१; सांस्कृ०, ८८

पूजास्थान— निगमा०, ७७, ७९; एक०, १७२; सि० सा०, ३६८-३७०

पूर्णयोग— एक०, १६५-१६८

प्रगतिशील— आधुनिक विचारक अपने को प्रगतिशील और प्राचीन विचारकों को प्रतिगामी कहते हैं। समग्र०, १५०-१५३ अन्य पृष्ठ भी; एक०, ३०-३३; सांस्कृ०, २५, ३२, ३३

प्रपत्ति— उपनिषदों में व्याख्यात ध्रुवा स्मृति ही वैष्णवागमों में प्रपत्ति, शरणागति, न्यास जैसे शब्दों से व्याख्यात है। सांस्कृ०, १६-१७, ७३

प्रभास्वर(ता)— बौद्ध साहित्य में चित्त की निर्मलता के लिए यह शब्द प्रयुक्त है। भार०, १००, १६३; समग्र०, ७०, ८०, १४१; सांस्कृ०, ७५

प्रसिद्धि— अभिनवगुप्त ने आगमशास्त्र की प्रवृत्ति प्रसिद्धि के आधार पर ही बताई है। समग्र०, १३४; एक०, ९८

प्रातिभ ज्ञान— आगम०, ११०-१११; समग्र०, १३५; एक०, ९९, १४६, १७६, १८५

प्रासाद मन्त्र— सि० सा० उ०, १४-१८; सि० सा०, विविध पृष्ठ।

बन्दरघुड़की— यह आतंकवाद का ही छोटा संस्करण है। निगमा०, २५३-२५४, २५६; भार०, १६१-१६२, १६४

बन्ध— मोक्ष शब्द भी देखिए। एक०, ११३, ११७-११८, १२५, १८६; सि० सा०, ४२

बर्थ डे— जन्म दिन के कर्मकाण्ड पर अपसंस्कृति के प्रभाव की समीक्षा। समग्र०, ९९, १२५, १२७, १४६; एक०, १७, २१

हो चुकी है। पुनः देखिए—समग्र०, १२३, १३२-१३३, १६३; सांस्कृ०, १६-१८, १४२, पार०, ३७३-३८४, ३८७

भक्ति योग— माहात्म्य आदि का विचार। पार०, ३७१-३९०

भक्ति सम्प्रदाय— आगम०, ११७-१२३; निगमा०, १०७, १७२; भार०, ४३-४८; समग्र०, १२०-१४०; एक०, १३८-१४०, १४३; सांस्कृ०, ६६, ७३, ७५; पार०, २०३-२०४, २०२-२१४, ३२७

भगवद्गीता— निगमा०, ४५-४७

भगवाकरण— एक वैवर्तिक शब्द। एक०, ३४, ९७, १९०; सांस्कृ०, २५-३१, ३५-३८, १३६-१३८

भागवत मत— निगमा०, २४२, अन्यत्र भी; सांस्कृ०, ६५-६८, १३१

भाग्यवाद— पुरुषकारवाद और भाग्यवाद पर विचार। एक०, १०६, १०७, १६९

भारतीयकरण— समग्र भारतीयता का प्रतिनिधि शब्द। आगम०, १४९-१५५; भार०, १२९-१३३; समग्र०, ८९, ९३, १०७; एक०, १९-२० तथा अन्यत्र भी; सांस्कृ०, ३५-३८, ४२-४६, ९४

भारतीय पंचांग— पत्रकार हिन्दु पंचांग और हिन्दू तिथि का उद्घोष करते हैं, जब कि इस्लामिक पंचांग की प्रवृत्ति भारतीय पंचांग पद्धति से ही हुई है। अधिक मास की व्यवस्था न होने से प्रत्येक तीन साल में इसमें विकृति आ जाती है। एक०, ३०

भारतीय वाङ्मय— सांस्कृ०, १२३-१३९

भारतीय संस्कृति— भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों पर विचार। निगमा०, २४१-२४४; भार०, उपोद्घात एवं १५२-१५५; समग्र०, ९०-९८, ११५-१२०,

समग्र०, ३९, १३६; एक०, ८९, १४० तथा अन्य पृष्ठ भी।

(आचार्य) शंकर— सांस्कृ०, १३४-१३६ तथा अन्यत्र भी। सही काल का निर्धारण।

शंका— भेद, लक्षण आदि का निरूपण। निगमा०, ४०-४१; समग्र०, ९०; सांस्कृ०, ८१-८२

शत्रुभाव— पक्ष-विपक्ष के स्थान पर शत्रुमित्र भाव का प्रसार। समग्र० १९५; सांस्कृ०, ३२, ४२, ९५

शाक्त तन्त्र— शाक्त मत की वेदों में चर्चा। समग्र०, ६-१०, २३-२४, ३८-४०; सांस्कृ०, ११-१२, २०, ७२, ८४, १३१-१३२

शास्त्रविभाग— विविध भेद और उनका अनुशीलन। नाद-रूप शास्त्र। निगम और आगम विभाग। समग्र०, ४५-४६, ७४-७५; सांस्कृ० ६९, १२५-१२६; सि० प्र०, १९-४०, ४५-५३ प्रस्तावना भी द्रष्टव्य; पार०, २-६; सि० सा०, अनेक पृष्ठ।

शिवागम— २८ सिद्धान्त शैवागमों का परिचय। सि० सा० उ०, ७०-७२; सि० सा०, विविध पृष्ठ।

शुद्धि— शुद्धि एवं अशुद्धि का विश्लेषण। आगम०, ४१-४२; समग्र०, ९०, ११८; एक०, १४४-१४६, १६८; सांस्कृ०, ८१-८३

शैवागम— शैव तन्त्रों के चतुर्विध विभाग, पंचस्रोतस् आदि का परिचय। आगम०, १५-१६, २४; समग्र०, १३७-१३९, १६१; एक०, १२८; सांस्कृ०, ३-५, १३५-१३७; पार०, २८२-२९७; सि० सा०, २५७; सप्तविध शैव, पार०, १०८-११७

श्रमणब्राह्मणम्— निगमा०, २३८, २४९; भार०, ८८, ९६, १७०-१७१; समग्र०, ११, १५८-१६१; एक०, २, ११,

	१८६; एक०, १-७ (संस्कृति एवं साहित्य भी द्रष्टव्य); सांस्कृ०, ९७-१०९
समग्र भारतीयता—	सांस्कृ०, ९४-९६
समता दृष्टि—	साम्यवाद का विश्लेषण। आगम०, ९८, १२२-१२३; निगमा०, ४४-४५; समग्र०, ९०, १८८; एक०, १४८-१५०; सांस्कृ०, ८१, ८४-८५, ८७
समता व्रत—	सांस्कृ०, ८४-८५
समन्वय—	संस्कृति का स्वभाव। निगमा०, ३८-३९; समग्र०, १३७-१३८, अनेक पृष्ठ; एक०, ५१-५७, १७५-१८०; सांस्कृ०, ७१, ८५-८६, ८८
समन्वयाचार्य—	श्रीकृष्ण का सांस्कृतिक विश्लेषण। आगम०, १२७-१३०; भार०, २३-२६
समयाचार—	नियमों का निरूपण। गुरु०, ४६; पार०, ४९-५१, ५३; सि० सा०, विविध।
समरसता—	सांस्कृ०, ३२, ४५, ४६
समाजवाद—	परिभाषा, संस्कृति आदि का परिचय। निगमा०, २३२-२३६; भार०, १११-११६, १७१-१७२; समग्र०, १००, १५१; सांस्कृ०, ११४-११५, ११७
सम्प्रदाय—	गुरु-परम्परा से प्राप्त ज्ञान का अर्थ-परिवर्तन। निगमा०, २२९; समग्र० एवं सांस्कृ० विविध; सि० सा०, ३०६-३१०
संभूय-समुत्थान—	समग्र०, ७९-८०; एक०, १७३-१७४
सर्वधर्म-समभाव—	शब्द की समालोचना। एक०, अनेक पृष्ठ; समग्र०, १५८-१६०; सांस्कृ०, ३१
सर्वधर्म-समादर—	के साथ सर्वधर्मसद्भाव भी सही शब्द। समग्र०, १५८-१६० अन्य पृष्ठ भी; एक०, १६, ४६, ५६-५८; सांस्कृ०, ३१, १०२

हठवादिता— आतंकवाद का प्रारंभिक स्वरूप। एक०, ९६

हत्यानिषेध— स्त्री, बालक और वृद्ध की हत्या वर्जित। समग्र०, १५७

हंसगायत्री— अजपा जप, आनापान स्मृति, हंस मन्त्र—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इसको नाद भी कहा गया है। समग्र०, ६२; एक०, १८२; सांस्कृ०, ९२; सि० सा०, ९६-९७, १२२-१२३

हिन्दसा— अंकलेखन की भारतीय पद्धति का पूरी दुनिया में प्रसार। समग्र०, १२८, १४८; एक०, २२; सांस्कृ०, ९६

हिन्दु— बहुसंख्यक भारतीयों के लिए गलत शब्द क प्रयोग। एक०, ५३-५६, १८२

हिन्दु तिथि— पत्रकारों की देन, हिन्दु तन्त्र विद्वानों की देन एक०, २१, ८८-८९

हिन्दुत्व— यह भी एक दुराग्रह है। निगमा०, २३७-२३८ सांस्कृ०, १११-११२; एक०, ५४-५५, ८३ हिन्दु-मुसलमान समस्या।

हिन्दु धर्म— परदेशी पसंद, सनातन धर्म भारतीय मान्यत एक०, ५१, ५३-५६, १७५-१७८, अन्यत्र भ सांस्कृ०, ३९, १११, ११५

हीनग्रन्थि— हिन्दुओं में प्रविष्ट हीनभावना का विश्लेष भार०, १४८, १५६, १७८; समग्र०, १२६, १५ १५३; एक०, ३२-३३, ४४, ४६, ६७; सांस्कृ ११५, १२१, १४०, १४२

ह्रासवाद— भार०, १२१, १२३-१२४, १५०; समग्र०, १९ एक०, १०५, १०७



शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्
डी. 35/77, जंगमवाडीमठ
वाराणसी - 221001

ISBN 81-86768-79-3
Rs. 150.00